

समर्पण

जिनके		जिनकी
असीम		वसति
अनुग्रह	। एवं	प्रेरणा
का		से
घर-दहसुत		असर सान
मेरे सिर पर रहा		प्राप्त कर सका

उन

पितामह गुरुदेव अक्षय प्रवर्तक पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महा०
के कर-कमलों में

समर्पित

समर्पित.....

'शुभन' मुनि'

जी

आत्म-स्वल्प, कर्तव्य एवं

धर्मावगण से अनभिज्ञ है

तथा पर-स्वल्प का ज्ञान प्राप्त कर

फर को उनके मार्ग पर स्थित

करने को ही मान विन्या है।

उन

पराधी आत्माओं के पर-स्वल्प

ज्ञान के विषय.....

क्या कहेंगे वे लोग, जो अपने स्वल्प का ज्ञान ही मानते हैं।

क्या कहेंगे वे लोग, जो अपने स्वल्प का ज्ञान ही मानते हैं।

संस्था की ओर से

प्रानुत "आवक कर्त्तव्य" नामक पुस्तक का प्रकाशन पाठकों के कर-बमलों में समर्पित है। यह पुस्तक आवक के आचार का दिग्दर्शन कराने में उपयोगी सिद्ध होगी तथा एहृत्स अपने एही-जीवन को सुन्दर बनाता हुआ प्रख्यातम दृष्टि की ओर प्रवृत्त हो सके एवं उसी रूप में (आवक) अपना जीवन व्यतीत करे ऐसी प्रेरणा इस पुस्तक से प्राप्त करेगा तो हम अपना पुरोपाय सफल मानेंगे।

पुस्तक में जंतु धर्म में रही आवक (एहृत्स) जीवन सम्बन्धी सभी प्रकार की मान्यताएँ और आचारका सक्षिप्त पर सर्वाङ्गीण विवेचन है। स्या० जंतु-समाज में इस प्रकार की पुस्तक का अभाव प्रतीत होता था कि जिसके माध्यम से आवक धर्म, एहृत्स धर्म का सामान्य तथा सर्वाङ्गीण ज्ञान हो सके।

इसके १०० प्रति प्रकाशन का व्यय श्री धन्नामल जी गभीरमल जी बम टोक निवासी ने श्रीमती चन्द्रादेवी धर्मपत्नी गभीरमल जी के अर्पण तृतीया के बाविक तप के उपलक्ष में किया है अतः उनकी सत्पा धामारी है।

इसका लेखन श्री प० मरेन्द्र कुमार जी महापात्र के शिष्य श्री सुमन मुनि जी म० ने किया है। उनके इस सद्गुरुवार्प के निष् हम धामारी है।

मुनीसाल जंतु
मंत्रो, पूज्य श्री बासोरास-स्मृति धन्यमाता
धन्वाता नहर

पुस्तक परचिय

प्रस्तुत संपुर्ण पुस्तक धात्र पूर्ण होकर पाठकों के कर-बननों में आ गयी है।

प्रेरणा :

पुनर्जन्म—लेखन की प्रेरणा धात्र का सामाजिक वातावरण है। जहाँ निमित्तकार, घाटाकार का नारा उठा कर घने मन के उन विचारों को पूर्ण करने का प्रयत्न बना लिया जाता है जो व्यक्तिगत, दलगत, स्वार्थ धर्मनस्य तथा प्रक्षिप्ता प्राप्ति के रूप हैं। धमलों के साथ-साथ धात्र-मुक्त और उनकी लेखनी कभी-कभी अपनी सर्वांगीण गति को भी तार कर जाती है। माना, समाज के धमल वर्ग में धमलाहृत संसार घाता है किन्तु वह सब किस पुनर्जन्म में नहीं था। धर्म और धर्मियों के नाशक को स्वीकार करने तो उसमें विचार, उच्चार और धात्रात्म्य भी धन्य मानना होगा। निमित्तकार की परिभाषा क्या है। उसकी मूल स्थिति बंसी होती है इस प्रकार के ज्ञान के धमाक में कभी व्यक्ति एक परम्परा, गति जो पहले नहीं थी और धात्र बन गयी है और उसमें मूल गुण और साधना को कोई धर्म नहीं है फिर भी उसे निमित्त धात्रा की कोटि में रख दिया जाता है। यदि धात्र निमित्त है और धमल वर्ग मर्यादा रहित होने जा रहे हैं तो उन्हें पुनर्जन्म रख करने तथा उनके धात्रा को निर्माण बनाने का यह कोई उपाय भी नहीं है। फिर धात्रात्म्य है कि धमल वर्ग पर धमली और उछली उन व्यक्तियों की धर्मिता है जो धात्रात्म्य से घरे, धमल धात्रा रहते विचार से धर्मिता है। वे एक प्रकार का धात्रात्म्य का संसार बन जा और निर्माण रहे रहते हैं।

धमलीबना तथा कुटिल और मन से हो तथा नाशकधी ज्ञान भी तथा उनकी पद्धति, वातावरण का रूप भी ज्ञान होना चाहिए। ऐसी धमलीबना ही जीवन की प्रभावित करती है। व्यक्ति अपनी मूल को सुधारने का उपक्रम भी करता है धात्रात्मिक जीवन में निमित्त, धात्रात्म्य, धात्र के लिये ज्ञान के साथ नाशकधी धमली और धात्रात्म्य को धर्मिता घात्रा है। धात्रात्म्य में

२०. भारत का भाषा-विवेक
२१. विधायक चार
२२. बाह्य प्र
२३. छद्म भावदत्तक
२४. भारत का जनसंख्या
२५. भारत का जनसंख्या
२६. भारत का जनसंख्या
२७. भारत का जनसंख्या
२८. भारत का जनसंख्या
२९. भारत का जनसंख्या

परिशिष्ट

१. भारत का जनसंख्या
२. भारत का जनसंख्या
३. भारत का जनसंख्या
४. भारत का जनसंख्या
५. भारत का जनसंख्या
६. भारत का जनसंख्या
७. भारत का जनसंख्या
८. भारत का जनसंख्या
९. भारत का जनसंख्या
१०. भारत का जनसंख्या
११. भारत का जनसंख्या
१२. भारत का जनसंख्या
१३. भारत का जनसंख्या
१४. भारत का जनसंख्या
१५. भारत का जनसंख्या
१६. भारत का जनसंख्या
१७. भारत का जनसंख्या
१८. भारत का जनसंख्या
१९. भारत का जनसंख्या
२०. भारत का जनसंख्या

आवक-कृत्य

(संक्षेप में)

१. मगनाचरण
२. ग्रहस्थायं छायाग्र हृष्टि मे
३. आवक धर्म . एक हृष्टि

मंगलाचरणा

नमस्कार-सूत्र

समो परिहंतासु

ममो मिडागं

नमो भगवते वासुदेवाय

नमो देवगन्धर्वराज

नमो भोए मय्य सादृत्य

મગધના રાજા બલિષ્ઠે, સમગ્ર પાલકાણાનું કાલકાલ સંભાળ્યું.

मगवाण व सध्वेष्टि, पद्म हृदय मंगल ॥

कथं—कहि तों को मेरा नमस्कार हो, जिन्हों को मेरा नमस्कार हो, कायावों को मेरा नमस्कार हो, कथावों को मेरा नमस्कार हो, कथा लोक में रहे सब साधुओं को मेरा नमस्कार हो।

यह पक्षों को बिना गया नमरदार सर्व प्रकार के पक्षों का नामक है। यह मगलों के प्रथम मगल है।

परिहृत करि + शत्रु, हृ + शारव वमंभय भाव यन् को मारने,
 नाश करने वाले पुरुष । मोह धारि अटारह शीघ्र रहित, अमल ज्ञान, अमल
 दर्शन, अमल सुख एवं अमल बीज रहित, इन्द्र-जीव द्वारा वृक्षित धाराप्रदेश,
 देवाधिदेव परिहृत है ।

तिष्ठ : ॥ वायुमोपस्थितः ॥

सिद्धि : स्वाम्योपपत्ति कथ सिद्धि की दिगों प्राप्ति हो रही है वे सिद्धि है । अथवा पाठों कर्मों से रहित, पाठ दृष्ट रहित, परित्यागतकार्य और मोक्ष-सिद्धन्ति से विराजित जीव सिद्ध कहलाते हैं । मुक्त जीव, परमात्मा ।

गृहस्थ धर्म :

मनुष्यः—जपतीतल पर दो
 मनुष्य और पशु-पक्षी, इसमें भी मनुष्य
 शरीर, संज्ञा, बुद्धि तथा ज्ञान एवं
 का उपा उपको प्राप्ति का थये भी
 का साम्यात्मिक दृष्टिकोण से भी
 है दृष्टि का तथा जो अप्रमत्त होता है १
 दान में मनुष्य ही सब से अल्प है अ
 जसका धर्मः—मनुष्य में जीवन
 की शक्तियाँ देखी जाती हैं, उन
 १ शक्तियाँ हैं— मनुष्योचित, मानव वृत्ति
 का मन में। पढ़ता मानी मानवता
 का गिनत और पर गुण है। मान
 के रीति को अपने स्वभाव के
 १ मन है, उसके विपरीत
 १ है कि—यदि मनुष्य ज्ञान यु
 १ में निदिष्टिणी शाली की हि
 १ का कहते हैं माना नहीं।" १ इस
 १ मनुष्य ग्रामं दृष्टुमर्हं (उ
 १ मनुष्य
 १ मनुष्य नरं प्रधानम्
 १ मनुष्य शाली शाली
 १ मनुष्य शाली शाली

गृहस्थ धर्म : सामान्य दृष्टि में

मनुष्य—जगतोत्पत्ति पर दो जीवन प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होते हैं—
मनुष्य और मनुष्यः, इसमें भी मनुष्य की अधिक महत्ता है इसलिये कि उसमें
संवेदना, मज्जा, बुद्धि तथा ज्ञान एक कर्म की संगति है। प्रगल्भ कार्यसाधना
का तथा उसकी प्राप्ति का ध्येय भी मनुष्य को ही है। शारीरिक एवं मानसिक
तथा धार्मिक दृष्टिकोण ने भी मनुष्य एक अनुपम प्राणी है समूह्य मन
है मृष्टि का तथा जो समूह्य होता है वह क्षण ही होता है। अतएव आत्म-
प्रवचन में मनुष्य ही सब से उत्तम है और उसकी प्राप्ति भी स्वल्प। *

उसका धर्म—मनुष्य में जीवन व्यतीत करने के लिये अनेक दृग्
और प्रणालियाँ देखी जाती हैं, उन सबका दो रूप में विभाजन किया जा
सकता है— मनुष्योक्ति, मानव कृति के अनुसार तथा इसमें भिन्न-भेद दानव
आदि रूप में। परन्तु यानी मानवता को कि उसका निज स्वभाव है और
दूसरा विभाव और पर पुरुष है। मानवता का यही आग्रह है कि वह मनुष्य
अपने जीवन की अपने स्वभाव के अनुसार ही व्यतीत करे। स्वभाव ही
उसका धर्म है, उसके विपरीत आचरण ही अपर्यय है। क्योंकि भगवान्
महारीर ने कहा—“यदि मनुष्य ज्ञान मुक्त है तो उसके ज्ञान का यही सार है
कि वह अपने लिये किसी प्राणी की हानि न करे क्योंकि सभी जीव जीवित
एवमा चाहते हैं मरना नहीं।” † इस आचार पर व्यक्ति मुक्त पूर्वक जीवित रहना

* मनुष्य जन्म मृत्युह (उत्तराण्यसन) “यदि मानुषा इति विचार्य
धर्मोत्तरम्” [महाभारत]

मनेषु मानुष्य मय प्रधानम् [आचार्य अमृतदत्त]
† एवं तु नाण्यिहो सारं न हि सर्वं विचार्य [मुच्यमान मुनि]
सर्वं जीवादि एकमस्ति जीवितं न मरिष्यते [सर्वज्ञानिक ६]

रहती है। बिना उनके उसका जीवन दग में ध्वसीत नहीं हो सकता। जानियों ने यह टीक ही कहा है कि वे व्यापार हैं किन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—[१] उन्म जड़-चेतन व्यापार होते हुए भी साधन हैं, साध्य नहीं, साध्य तो जीवन ही है। [२] साध्य और प्रसाधन, जड़ और चेतन का विवेक पूर्ण प्रयोग हो। स्वच्छन्द रूप से नहीं।

“मनुष्य है, चेतन है जड़ नहीं इसी भाँति ये मेरे साधन या मध्योपी को बि बि चेतन है उनमें भी सबेदन शक्ति (Feeling power) है, मेरी तरह वे भी मूल-दुल का अनुभव करते हैं पर मेरा वस्तु है अपनी कृति का संकोच करते हुए आवश्यक, अनिवार्य के लिए ही का उपयोग करने काय्यवा नहीं बूँत इनके बिना मेरा निर्वाह नहीं है” इस स्वानुमति व साधोपम कृति से जीवन निर्वाह करना अर्थात् स्वयं के साथ पर-दूसरे को जीवन देना दृश्य का वस्तु है।

दूसरे, जड़—निर्जीवपदार्थ-वस्तुओं के प्रयोग एवं उपयोग के लिए ही मन में विवेक अनिवार्य है अथवा मूल दृष्टि नहीं उस की तरह मन को दृष्टाएँ इतरतर विचार जाएगी और उन्हें विवेकने और पूर्ण करने निवे दायन्य बटिनाई और बहुत उठाना पड़ता है पर, जड़ साधनों के भी मन को निरनुमत् होने देना दृश्य का वस्तु है। मन के गने को (Emotions) दूरा करना है किन्तु उन्हें जो प्रसार है, स्वाभाविक और अनिवार्य है, नहीं तो वे पूर्ण ही नहीं होते? इसलिये दृश्य में रहा पति दृश्य के दायित्व का परिगणन, अपनी तथा दूसरे की वस्तु का रक्षण-संरक्षण तो करे पर मनुष्य गृह ही अनुकूलिता या दानव इन दोनों का प्रकार की मनुष्य बर्तित्व, पक्षीही, समाज तथा प्राणीयों जंगल में बरता हुआ अपने साथ उनका भी दयासम्भव दायित्व सम्बन्ध है करता है वह मनुष्य है।

मनुष्य के विद्या-बहाराँ के व्यापार पर ही दृश्य-सदृश्य की भाँति है। दृश्य करने करने माहुरण्य की मानवता मूल करने स्वभाव

है:—सामान्य धीर विशेष । सामान्य मार्गानुसारी धीर विशेष धावक । धावक की दृष्टि सम्पूर्ण धीर निर्मल धीर वह तत्त्वज्ञ होना है तो मार्गानुसारी होना भी है धीर नहीं भी । यही कारण है कि ये सामान्यधर्म बड़े गये हैं । इनमें धाम्यात्मिकता कम धीर व्यवहारिता अधिक होती है । मार्गानुसारी से धावक का स्तर ऊँचा होता है ।

पैतृस मुण्डः—यों तो ये नियम परिदृष्टि की धारणा करने लगे होते हैं :—रहती पैतृस का विधान है—जो मार्गानुसारी के बोल बहुमाते हैं—
न्याय सम्पूर्ण विमल-न्याय पूर्ण धन का धर्म करना चाहिए ।
ना धन के साहचर्य का निर्वाह बटित है, धनाभाव धर्म का भी बाधक है ।
चोचिये नीति से बड़ा गया है—धनाद्वयं, तन-मुण्ड । एष लोकोक्ति भी प्रचलित है—“साधु के पास कोड़ी तो साधु कोड़ी का, दृष्टि की पाप कोड़ी नहीं तो दृष्टि की कोड़ी का ।” धनएव धनोत्तम दृष्टि के लिये अनिवार्य धर्म है तथापि उसने धर्म में धनविषय का विवेक धारणक है । धनविषय साधन धीर किया से धन-सम्पद धन्याय है तथा धन्यायोपाधि धन बलह, धन्यवस्था, हिता आदि पाप ध धनर्ष का धुर है । दृष्टि—परलोच से दृष्टिकारी होता है । ऐसा धन स्वामी की बुद्धि को मलिन, व्यवहार को दूषित एव मूलधन को भी नष्ट कर देता है ।

धनविषय साधन है:—बलह को दबा लेना, रिक्त लेना, धनार्थ बंध हो जाना धन्याय, विवाहपात्र करना, स्वामिद्वेष्ट, समाप्त-दोह, निव-दोह, देन-दोह करने धन प्राप्त करना । राज-धन, कोटी, सन्नि-विद्वन्, धनविषय एव कोटावकाध धन धन्याय तथा धनविषय धन से धन धन्याय धारि ।

(२) दिष्टि-धार धर्मधर्मः—दिष्टि—धन्य धुरा की धनधारण दिष्टिधार है, यथा धन एव उते मुन्दर बहना । निरा न करना । धन

धन धन दृष्टि धर्मधर्म दिष्टिः सामान्यो विवेकधर्मः ।
[धर्म किन्तु ० धन १ मु ०]

विविध निष्ठ कार्यकारी-दुराचारी, व्यसनी, विद्रोहप्रवर्ती पुरुषों की संतति जीवन को नष्ट करने वाली होती है।

(६) मातृ-पितृ-सेवा:— माता-पिता एवं वृद्ध शुश्रूषण की सेवा भक्ति करनी चाहिए। इनके श्रेष्ठ व्यवहार उपहार से उत्तुष्ट होना भक्ति बलित है। सेवा है—उन्हें प्रमाण करना, आज्ञा स्वीकार करना, धर्म में समानता, उपकरण की सुविधाएँ देना।

(१०) स-उपद्रव वर्जित वर्जन — उपद्रव वाली वस्तु की छोड़ देना चाहिए क्योंकि वही रहने में धर्म और काम की हानि होती है, अस्वस्थ और बलहीन बना रहता है। उपद्रव वे हैं—अव्यक्त-राजादि अधिकारी का अत्याचार हो जाना परचक्र-दुमरे राजादि का बलवि पर आक्रमण, लूट-छोटा आदि, दुष्काल, महामारी इति विरोध हो जाना आदि।

११. गृहित कार्य अग्रवृत्ति—निष्ठ या पृथिव्य कार्यों व्यापारों को नहीं करना चाहिए वे कृष्णार्थ, दुष्क, जानि देत तथा धार्मिक दृष्टिकोण से हैं। इनके आचरण से व्यक्ति द्वारा अभ्यन्तर कार्य-धर्म की उपद्रव के विषय बन जाते हैं। ब्रह्मचर्य भी है—आपकी काम उसी को धारण, और करे को लाटा जाने।

१२. आयानुसार धर्म्य—गृहस्थ को अपनी आय के अनुसार ही धर्म्य (धर्म) करना चाहिए आय के कम होने पर आचरणकर्तों भी कम कर देनी चाहिए अथवा बंधनपूर्ण की भक्ति जीवन बिताने वाला कोई समय के बाद ही धर्म्य-करीर होता ही निष्ठाहीन होता है।

मूल्य आय—उपार्जन बन के बार आय होने चाहिए एक भाग विषय के निम्न, दूसरा व्यापार से, तीसरा धार्मिक कर्मों से अथवा-योग्य, राजादि के निम्न और चौथे से धर्म। जीवन का सुखमय निर्वाह। विवेक, धर्म्य अपनी परिधिपर कर स्वयं विचार दीव्य रहे।

[आवक-रुत]

१३. जातुक वेपविन्दानः—युद्ध की वेप-भूषण देश, काल
समस्या, प्राणिक स्थिति और जानि के अनुरूप रहनी चाहिए। विशेषत
प्राणिक दृष्टि में समान और विभिन्न व्यक्ति के लिये। अभिप्राय यह कि ऐसा
वेप विधान रखा जाहि जिससे लोकाचार न हो।

१४. अष्टमुणोपेता बुद्धिमानः—युद्ध की
समस्या है कि बुद्धि के अष्ट मुणों का उपयोग
(१) युद्ध की समस्या का समाधान

[illegible]

... को तुरंत ...
... में दोष देकर उसे प्रत्यक्ष ...
... मिनटों में जानकर ...
... कि वह ...
... कि वह ...
... कि वह ...

[The page contains handwritten notes in Hindi script, which are mostly illegible due to extreme blurring and poor scan quality.]

२६. लोक कलमता — किमलता, लोह आदि धुरों के कारण
 चारम होने वाली मोहकियता ही लोककलमता है। जीवन में यह प्रतिष्ठा
 की घोरक है।

३० सत्यता —

३०. सतज्ज — धर्म बाला होना, बुराई से मन का एकोप भाव
सदा है । इससे बुराई से बचने में धर्म सहायता मिलती है ।
३१. सदय — बाली सदा से ।

११. सदय.—ब्राह्मी भाव के प्रति दयावान रहता सदयता है। यह मानवता है।

२२. सीम्यः—शात कृति वाचा, स्वभाव मे कुरुता वा न हाना
गोम्या है। कुरुता कुरुता मे उद्धेय, भय, प्रत्यासी सीम्यना स्नेह तपादन
रती है।

१३ परोपकार कर्म गुरुत्व को पर-दूसरे का, उपकार-मला देने वाला होना चाहिए। परोपकार पुण्य है। सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में इसकी अपेक्षा बढ़ती है। पञ्चानामक सहयोग और सेवा के लिए कोषपालय, धनानामय, दिशाल सत्पाठ, पशु-पक्षी मत्स्याल धानि परोपकार है। ऐहिक और पारलौकिक दोनों जगहों का हितंशी है परोपकार।

१४ अन्तरंग आनुदत्ताः—आनु का अर्थ है अपभार—भुग करने वाला, यह दो प्रकार के हैं। बाह्य और अन्तरंग। बाह्य आनु पत्नी, पुत्र, मनुष्य आदि तो अन्तरंग आत्म-विकास हैं। यही अन्तः प्रसार के हैं बिन्दु मुख्यतः यह है—आत्म, बोध, मोक्ष प्राप्त, यह और एवं। अहम् इत्यादि सर्वों का त्याग नहीं कर सकता बिन्दु इनके अन्तर्गत सब, सर्वोपरि के प्रयोग के शक्ति होती है अतः सर्वोपरि पूर्व से रहते हुए दूर करने का सम्भाव्य करना चाहिए। अतः यह सब के दूर का काम होवे अतः आन्ति उत्पत्ती हो बनेगी।

३५. इन्द्रिय लयः—गृहस्थ को इन्द्रिय-लय प्राप्त करना चाहिए। साधु को यही इन्द्रिय निषेध तो गृहस्थ के लिए कठिन है किन्तु उन्हें स्वच्छन्द तथा

(3)

[आयक-कसंभ
नस जीयों ५

(१६)

[थायक-कृत]

“निर्गमिर्गन्” कहा गया है। मूल व्रतों के ग्रहण से ही थायक वस जीवों के
 निःसारण होता है और स्वानरों का मयसायान् ।

१-रया-दानः—आयत को समर्पण होते हुए अनुकम्पा, कारण्य प्राप्ति
 का भी देना चाहिए। आयत में कहा गया है कि दान के लिये ग्रहस्थ के-द्वारा
 की प्रार्थना करना पड़ती है। यह वस्तुतः लक्ष्मी का लाभ है यदि समर्पण
 हो तो दान के लिये दान और पराधीन हो गये तो फिर केवल परचाता
 के लिये दान के लिये दान । दान में दान आवश्यक है कि ग्रहस्थ कामना।
 और दान के लिये दान के प्रयत्न निःसारण और मुदान क्षेत्र कुशल नहीं।

(१७) अ. दुर्गम निःसारणः—इह, कर्मा

[illegible][illegible]

[Faint, illegible text from bleed-through]

प्रपन्न, विवेक विरल तथा सदा कमपायि और दुःख-वर्त्तों में रहना है अतः
 'बढ़ी धर्म पानन का विचार नहीं, धर्म के साथ में घर, परिवार बन छोड़
 तथा जीवन ध्ये बारक है। सर्वप्रथम दृष्टे दूर करना यावक का कर्त्तव्य है।
 इसके सम्भाव में यावक धर्म का पानन सम्भव नहीं। ये ध्यान — पूजा,
 मन्त्रमन्त्र, मन्त्रिपन, ब्रह्मयोगन, जिनान, बोरी तथा पर-रुची समस्त है।

इन दुःख-वर्त्तों के साथ मध्य और मांग मध्य तथा बीच उदुम्बर
 आदि पानो के स्थानों का त्याग करना चाहिये। क्योंकि यावक अलगा-धर्म
 होता है। ये उदुम्बर, वृक्ष, बर, पीपल आदि पन बढ़ी-बढ़ी जाने होते हैं।
 अतः उनमें स्थाने योग्य कम और पंजने योग्य अधिक पदार्थ होना है। बढ़ी-बढ़ी
 पन त्याग्य है क्योंकि एक बीज में एक जीव अवस्थित रहता है, दूसरी जान
 यह है कि उनमें अनल्पविक जीवों के साथ मृदुल पन जीव भी रहते हैं। इसी
 प्रकार मोक्ष और मोक्ष के उत्पत्ति और प्राप्ति, जल, जीवों की, विचार्य है।

१३—पर्व-राधनः—दुःख, पञ्चमी, धष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी,
 पुणिमा आदि पर्व दिनों में सामान्य आरम्भ हिमादि कार्य में प्रवृत्ति उपेक्ष
 कुतः, जगती को छोड़कर—स्नान कर जन, दया, वीर्य, सत्त्व आदि करने
 चाहिए। ये विद्या-सम्पन्न जन हैं। इनके मन, शरीर धर्माभ्युत्थान के अव्यय
 हो जाता है, आरम्भ परिग्रह में वर्तमान में निवृत्त, जन काल में हुए की अनुष्ठि
 तथा आत्मा की काल के निवे जागरण प्राप्त होता है। इस अनुष्ठान में आत्मा
 प्रकट नहीं होता। यावक पर्व दिनों में जो अव्यय जन का जागरण अवस्थ
 करता है।

१४—क्षमन-क्षमापना—क्षमा लेना और क्षमा देना यावक का
 कर्त्तव्य है। अनुष्ठान के मूल जान अवस्थान में हो जाती है और उसका कार्य
 जागरण परिनिमित्त, सामान्य जागरण मन का राग-द्वेष, कषाद आदि है।
 निम्न इनका निवृत्त हो जाना चाहिए। अन्त्येष्टा जब जब कब

१७—अनुकम्पा.—अध्यक्षों का सबसे प्रधान लक्षण क्या ही स्वीकार किया गया है। दुर्बल धीर, मन, धारणा अथवा किसी भी प्रकार की दुर्बलता हो उसे येन येन प्रकारसे दूर करने का प्रयत्न करना आवक का वर्तमान है। क्योंकि दुर्बलता स्वयं ही पाप है। यह आत्मोन्नति में बाधक है। ईर्ष्या, प्रमोद, क्रूरता एवं माधुर्य्य पाप हृदय में आवक है।

१८—जिज्ञासुता.—महा जिनदेव की स्मृति-गुण-कीर्तन करना वर्तमान है। क्यों? इसमें कि वे राग-द्वेष के विवेका हैं। इनमें पूर्ण धारणा ही प्रमाण है तथा धर्म के सत्यावक, प्रतिष्ठापक हैं। इनके स्मृति वर्णन हृदय को धड़ा धाव को बल मिलता है, उनमें इतना धानी है। गुण के निमन में स्तुति आचन होती है।

१९—स्वाध्याय निरत.—आवक की प्रतिदिन स्वाध्याय, धर्म शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन अवश्य करना चाहिए। इसमें तहिन ज्ञान में निमग्नता तथा गहन अध्ययन और मवीनता-ज्ञान की संप्रति होती है। धारणा में कहा गया है कि स्वाध्याय करने यदि उत्कृष्ट ज्ञान (रस) का ज्ञान तो समाप्तों के वर्णपर्यंतों का अवसान और तीर्थ पर मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अन्यथा ज्ञान प्राप्ति और धर्म निर्देश तो होती ही है।

२०—प्रतिमा-सदृश.—धारण बलिष्ठ आवक की स्वच्छ प्रतिमाये मोक्ष को ही उद्वेग प्रारण करना। इसमें किमुक्ति पुन तथा दृष्टक धन में मुक्त होता हुआ आवक अमल मोक्ष-भूत पर पर बोधन विनाश। यह उसके आवक धर्म की धर्म विधि है।

२१—अमाधि-सदृश.—आवक समाधि पूर्वक करने का दृष्टक है। समाधि-मृन्मू केला में या आसाधित मार्गान्तरिक धर्म हो जाने पर मन से धीर।

आत्मार्थः एकदृष्टिः] (२०)

[आवश्यकतः

जब आप भाव से यह मरीच द्वारा निर्येष्ट तथा अज्ञान आदि आहारों
परिचय करके हुए जीवन तथा मरण की कामना न करते हुए समभाव पू-
र्य जीवन समाधिमरण है । समाधिमरण ही वस्तुतः मरण है अन्य तो रो-
चिकता, अज्ञान, मन से मरना मरण की कोटि में नहीं है । वह तो विवशता
पूर्वक ही का समाधि करना है, जब मन में ऐसा नहीं चाहता ।

इसके विपरीत जहाँ जिनका मुख्य गन्धर्व आत्म-विमुक्ति के
लिए जहाँ जीवन और आध्यात्मिकता के गौण रूप का दृष्टी में अज्ञान
हो जाता है । वे जब भावक मुख्य है अज्ञान नीति एवं व्यवहार पू-
र्य जीवन का ही समाधिमरण के पूरे दृष्टी में प्रतिकूल नीति एवं
व्यवहार का ही समाधिमरण का प्रयत्न नहीं है ।

[अज्ञान पथ के आधार पर]

एक

श्रावक

‘श्रावक’ जैन धर्म और उसके वाङ्मय का पारिभाषिक शब्द है। यह गृहस्थ श्रावक के लिए प्रयुक्त होता है। जैन-धर्म के साधना के दो रूप हैं—एक गृहस्थ की धर्म साधना तो दूसरी साधु-धम्मणी की। गृहस्थ की साधना घरगुण रूप में, साधु की महान रूप में होती है। किन्तु साधना भी आध्यात्मिक जीवन में, संघ में महत्त्वपूर्ण स्थान है और इन दोनों की सीमा का पक्ष कहा गया है। आगम में इसकी गणना चार प्रकार के तीर्थ में की गयी है—साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप अनुविधि तीर्थ और संघ।^१ साधना में संलग्न गृहस्थ को गृहस्थ में रहते हुए भी मुच्यता कहा गया है तथा उसकी अज्ञातता के लिए आलोचना करने का विधान है।^२

साधु-साधना का स्वामी होने पर भी ‘श्रावक’ क्यों महान है यह ‘श्रावक’ शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट हो जाएगा। ‘श्रावक’ पद में तीन शब्द हैं—‘श्रा+व+क’। इनमें ‘श्रा’ शब्द तत्त्वार्थ अर्थान की सूचना करता है, ‘व’ शब्द सप्त धर्म-दीप्तो में धन रूप दीप्त होने की प्रेरणा करता है और ‘क’ किञ्चित् कर्म या महापापों को दूर करने का शक्ति करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर यह नाम निम्नप्र हो जाता है—

‘धर्मिण एवमिदं तत्त्वार्थं अर्थान् निष्ठां नश्यन्तीति वा,

तथा वरमिदं गृहस्थगत दीप्त्यु घनदीप्त्यनि निक्षिपन्तीति वा: ।

० अत्रिहं संघे य० तं० (निरर्थं पुण्य.....) अथवा, समस्तार्थो, साधना, साधिकायो । [मू० १९३, न० २ द० ८ उ०]

१ एवं निष्ठां अर्थान्, निरर्थं-मे वि मु चया, उ० ३१५

साधनात् साधिकाया साधिकाया साधिकाया: —श्राव०

तथा किञ्चित् किञ्च कर्म यजो विशिष्यतीति काः,
 काः कर्मपारो धारक इति भवति ॥"—

[आवक-कर्म तत्त्वे]

(२) "जो श्रद्धालु होकर शासन को सुने, दीनजनों में वर
 को प्रदान करे, सम्यग्दर्शन का वरण करे, मुकुत और पुण्ड्र
 का दर्शन करे, संन्यास का आनरण करे उसे विचक्षण जन था।"

(३) "जो कीर्ति आदि पदार्थ का चिन्तन करने से श्रद्धा उत्पन्न
 हो, तो उसे विचक्षण मुनियम भन हो होता है तथा उत्तम साधु
 तथा कर्मों में मान्यता का मान करता है इसी कारण ही उत्तम

आवक-कर्मपारो धारक का आवार पर आवक के गुण
 का वर्णन किया है। जिसमें श्रद्धा, धर्म श्रवण, दा
 र्शनिक विचारों का आवार है। किन्तु ये क्रियाएँ सम्यग् हों, यों
 ही आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन का होना आवश्यक
 है। आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दृष्टि होना है
 और आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दृष्टि होना है
 और आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दृष्टि होना है

आवक-कर्मपारो धारक का आवार पर आवक के गुण
 का वर्णन किया है। जिसमें श्रद्धा, धर्म श्रवण, दा
 र्शनिक विचारों का आवार है। किन्तु ये क्रियाएँ सम्यग् हों, यों
 ही आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन का होना आवश्यक
 है। आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दृष्टि होना है
 और आवार पर आवक का सम्यग् दर्शन, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दृष्टि होना है

सत्य-वैदिक पदार्थ को नन्व कहते हैं अर्थात् जीय, अजोय और निजोग, बन्ध और मोक्ष इनको तत्त्व है।

कर्म के कारण ही हमारा का त उममें रहित मान
मोक्ष कर्म है। उममें उ
प्रभाव पड़ना है।

... निष्काम मोक्ष कर्म है। उनके उ
 ... प्रभाव पड़ता है।
 ... और लोग करने में आस
 ... है और हम क
 ... मध्यम
 ... मन्त्रानुष्ठानि
 ... यथा स
 ... यत्न कर
 ... मन्त्रानुष्ठानि
 ... मन्त्रानुष्ठानि
 ... मन्त्रानुष्ठानि

वह पुद्गल—जड़ के स्वभाव आत्मा के स्वभाव को जान कर जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अध्यात्म वाद की धोर धारसर होता है ।

उक्त आधारों पर श्रावक में सम्यग्दर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा धर्म धर्मणु—मुनने का गुण भी आवश्यक है क्योंकि 'श्रावक पद' शब्द और श्रवण भाव से बना है साथ ही उसे केवल शब्द और श्रवण का पात्र नहीं बल्कि दान, धन-संयम का पात्रक भी होना चाहिए ।*—श्रावक के श्रवण गुण का उन्नेय करते हुए एक आचार्य ने कहा है—जो सम्यग्वादी धीर श्रमणव्रती होने पर भी प्रतिदिन नापुष्पो वे गृहस्थ और मनीषी के आचार्य-धर्म को मुने वह श्रावक कहलाता है । एक मनीषी ने इसमें भी आगे बढ़कर मुनने तथा क्रियाशील रहने की व्याख्या की है कि जो परमोक्त के लिये हितकारी, सम्यग्जिन वचनों को उपयोग-में मृत्ना है, तथा कर्म के धनि तोय रूप को नष्ट करता है वह यही उत्कृष्ट श्रावक है ।† यही श्रवण के लिये कहा गया है ऐसा

* म सम्यग् दृष्टेन समग्रं प्रवचनं वक्तिमान्, यद् विद्यावदयकं दिग्ग-
 वद् रूपान् वृत्तयश्च आह्वयते भवति । [तात् १ सू. १६ अ.]

अभ्युपेन सम्यक्त्वं प्रतिवप्रागुपगच्छेति प्रति दिवसं वक्तिष्य ।

समाचार्योऽप्युक्तोऽपि साक्षात्कारी श्रुत्योपीति श्रावकः ॥

[आश्व ४० अंतिम पा. १]

अथासौ हृष्ट्यादि विदुः सत्पावनं, समाचारमनु प्रयोजनम् ।

श्रुत्योपि च साधु वक्तुं तद्वत्तु, श्रावकं प्राप्नुमीति विनयः ॥

[अभिधान राजेन्द्र 'साधु वक्तुं']

† परमोप द्रष्टुं मय्ये को हितवदन्तु मुनीन् उच्यते ।

अहं त्रिभुवने विवक्षा मुक्तोऽपीति साधु एव ॥

[अथा १]

वह पुद्गल—जड़ के स्वभाव आत्मा के स्वभाव को ज्ञान कर जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अध्यात्म वाद की धोर घटसर होता है ।

उक्त धारारों पर आत्मक में साम्यदर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा धर्म ध्वल—मुनने का गुण भी आवश्यक है क्योंकि 'आत्मक पद' श्रद्धा और श्रवण भाव में बना है साथ ही उसे केवल श्रद्धा और श्रवण का पात्र नहीं बल्कि दान, धन-संयम का पात्रक भी होना चाहिए ।^१—आत्मक के ध्वल गुण का उन्मेष करने हुए एक धारार्थ ने कहा है—जो सम्मन्वी छोड़ धातुमयी होने पर भी प्रतिदिन साधुधो ने सुहृद और शनिधो के धारार्थ-धर्म को मुने वह आत्मक कहलाता है । एक मनीषी ने हमसे जो धामे सङ्कर मुने तथा क्रियाशील रहने की स्थापना की है कि जो परमोक्त के लिये हितकारी, सम्मन् जिन वचनों को उन्मेष-मे मृगत है, तथा कर्म के धार्मिक रूप को नष्ट करता है वह यही उत्कृष्ट आत्मक है ।^२ यही श्रवण के लिये कहा गया है ऐसा

^१ न साम्यं दर्शनं सम्मन् प्रवचनं अतिमान्, पदं विधावश्यकं निम्नं पदं स्थानं युक्तं च आत्मको भवति । [ज्ञाना १ भू. १५ अ०]

अभ्युपेयं सम्मन् च अनिवार्यगुणोऽपि प्रति दिवसं धर्तव्यम् ।

समाचारसामान्यादिरित्वा च सामान्यानी शृणोतीति आत्मकः ॥

[आत्मक धर्मं दर्शयति वा २]

धारातः स्वच्छादि विदुः सम्मन्वर, समाचारमनु प्रवचनम् ।

शृणोति च साधु वनाद् गच्छति, आत्मकं श्रवणोऽपि निम्नम् ॥

[समिधानं राजेन्द्र 'मावद ४२२']

१ परमोक्तं हि सर्वं को ज्ञानवत्ता शृणोति उक्तुमी ।

सर्वं दिवसं धर्मं दिवसा मुक्तामी साधो एव ॥

[पथा १]

[श्रावक-कर्तव्य
 की जो उत्तरीय पर्याप्त के निम्ने हितकारी है, जीवन के लिये सम-
 सम्पन्न हो जिये वही ही तीव्रता भी जान हो तब केवल मुनने से
 प्रसन्न हो सके।

महा श्रावक—श्रावक में महाश्रावक पद का भी प्रयोग है। इसमें
 श्रावक के 'व' हटा दी जाती है। महा (महा) पद श्रव्य में विशेषता
 के कारण विशेषता में प्रयुक्त हो गया है।
 महाश्रावक

भावक तथा उक्त उसके पर्यायवाची शब्दों के अर्थ से ज्ञात होता है कि भावकत्व मूलतः सम्मत्कत्व, श्रद्धानुगा तत्त्व—के प्रति भक्तिमान, तथा देग—प्रणुवत के पावन से है न कि किसी जाति, वर्ण, भाषा और देग, ज्ञान की परिधि में है। वह तो आत्मा के, तत्त्व के प्रति मधार्थ (रिणाम और भावरण है अतएव आगम में भगवान महावीर ने मनुष्य : अनिरिक्त पशु-पक्षी जीवन में भी इसका विकास बताया और म्यगदर्शन तो हमने भी निम्न कोटि के भूनात्माओं में पाया जाता है। ५-पक्षी जीवन में जो समनस्क (मन जाने *with mind*) एवं जाति रण ज्ञान माने है सम्मत्दर्शन युक्त होकर ग्यारह प्रतधारी हो सकते हैं। इन बाह्य प्रेम की भावना और दलाली ही कर सकते हैं, स्वयं से दान दकर प्रतिज्ञा नहीं में सकते हैं क्योंकि बड़ा साधनों का है होता है।

दर्शन-धावक का मान अट्टा-जीवन ही होता है इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती धावाओं एवं चिन्तनों में मनभेद रहा है । कतिपयों की दृष्टि में, अट्टा जीवन को परिवर्तित करती है अतएव उसमें विविध न सही सामान्य सदाचरण रूप चरित्र रहता ही है । उनके मतानुसार पाँच उद्भूत धारि बहुबोद्धक पालो तथा सात बुद्धयुक्त (ब्रह्मा, भद्रिराजान, मात भद्राण शिवार, नर रत्नोपमन, वेदपागमन, तथा खोरी) का त्याग प्रदत्त अष्टद्वय धारों का वास तथा तत्त्व के प्रति यथार्थ दृष्टि है जिसमें बही दर्शन धावक है । १ हमरा पक्ष सम्भवतः के मूल कारण दर्शन मोह कर्म के उपशान्त, शय, क्षयोपशान्त में चरित्र के धावक कर्म प्रत्याख्यान-रण और अन्तर्दाहयानावरण कथाम का क्षयोपशान्त न मानकर उदय मानता है धन-दर्शन धावक के विरतिमय परिणामों का अभाव मानता है क्योंकि विरति का ही हमरा नाम चरित्र्य है । उक्त मान्यता-धुपार जब तक अहिमायुष्यत रूप प्रत्याख्यान नहीं होता तब तक वह धनी मत्ता में अभिहित नहीं होता ।

धनी धावक—धन का अर्थ है विरति अर्थात् त्याग, विरक्त, निरग और उनका भाव धन है धन का धारक धनी है और वह उसका

१ दत्त धावक । २ दह ३ प्रतिमाना प्रकल्प-वेदधि प्रतिमाप्रतिवाचनार
धेयवकाताप्रतिवाचनीर्दिन ४ धनमय धावक दर्शन धावक
[सम० ११ तप० ५० १]

द्वंद्वी (२५) —दर्शनिद्व —दर्शनमायान्वीति दर्शनी । सम्बन्धवर्ति,
[धाव० १ ध०]

“दत्तधौ दत्तधौ” [धनु० धाव० १०]
१-पहुँचकर दत्तधौ चरितेई दत्त धन विनाश ।
सम्पत्ति विमुक्त मर्द को दत्तधौ धावको अग्निदी ॥
[धनु० —

[भावक के प्र

भावक का जो भी सम्बन्धन में युक्त हो, वही भावक है। व्रत ए
 व्रत का भावक नहीं है। व्रत का भावक दो प्रकार का है—स्वामी
 व्रत का भावक स्वामी की भक्ति, देशविरत, सर्वविरत। सर्वविरत
 भक्त (व्रत) की जो देव विरत भावक धर्म है अतएव भावक
 का भावक का देशविरत भी है। देश का अर्थ अंश रूप से, विनाश
 भावक विरत का भी है। भाव से अंश रूप में निवृत्ति या अहिंसादि
 भाव का भावक है। भाव से अंश रूप में निवृत्ति या अहिंसादि
 भाव का भावक है। भाव से अंश रूप में निवृत्ति या अहिंसादि
 भाव का भावक है। भाव से अंश रूप में निवृत्ति या अहिंसादि

स्वीकार करके चलती है किन्तु वा—ग्रहण के आने मौनिक रूप उपस्थित करती है—

(क) श्वे० धाम्नाय में वनग्रहण के मुख्यतः दो प्रकार हैं :—

१—यथार्थ एक, दो पापों से त्रितन होना या महिलाणुवत आदि ग्रहण करना ।

२—मर्त्यप्रदम अणुग्रह, बाद में गुणग्रह और फिर निशा व्रतों में ग्रहण करना । अर्थात् ग्रहण मूलग्रह बाद में उत्तर गुण । इन व्रतों में ग्रहण के बाद इनका पानन भी उक्त विधि के अनुसार ही है किन्तु धम्यात हो जाने पर विशेष शुद्धिकरण के लिए विनश्य में ध्यात प्रतिमा ग्रहण का विधान है तथा अन्तिम गमाधि मरण, संवेतना का ग्रहण भी, यह तीसरा प्रकार है ।

उपयुक्त पद्धति से धावन के दो नाम— धापारी, प्रतिमापारी होते हैं और इसी में सामान्य और विशेष धावन ग्रहे जाते हैं । धावन और महाधावन भी ।

(ख) दिगम्बर धाम्नाय में धावन की वन-ग्रहण व्यवस्था के एवं पानन के तीन भेद हैं — प्राग्मन, मध्य और पूर्ण । दूसरे शब्दों में पञ्च रूप में, निष्ठा रूप में एवं पूर्ण रूप में देवता का पानन होता है । और इसी तीनों व्यवस्थाओं या रूपों के आधार पर धावन भी तीन प्रकार के होते हैं — पश्चिम, मध्य, साधक ।

१. पश्चिम — जो एक देव ने अर्थात् पश्चिम रूप में हिता का राजा कर धावन धर्म की ग्रहण करता है । ऐसे समय व्यक्ति (धावन) बहुत शीघ्र जाने की प्रवृत्ति के फल (उदुम्बर आदि) तथा ऊँचा आदि सात दुष्प्रेतों की छोड़कर अहिता का साधना में लगता है । उसका यह राजा वन—मध्य रूप में है धनः पश्चिम धावन है ।

८।

[आवक के प्रकार]

२. भंडित :- निष्कार्यक पाँच अणुवर्तों (अहिंसा आदि) का निष्कार्यक विधियों में पावन करता है, तीन गुणवर्त तथा शिशा
द्वारा भी भण्डितान्न करता है। जीवन के सामान्य कार्य भी
३. मावक :-

आवक के अन्य दो प्रकार—अन्तर्दृष्टि एवं शक्ति तथा चारित्र्य के आधार पर उपर्युक्त आवक के दो प्रकारों का वर्णन है। प्रस्तुत पक्षियों में आवक के निश्चय और व्यवहार की भूमि पर दो भेदों का उल्लेख है।

१. **द्रव्य आवक**—तत्त्व के प्रतिगूर्ण, विगुड परिणामों का न होना किन्तु प्रकट में "आवक है" ऐसा प्रतीत होना, मन में भाव्य या संवत्तता का होना तथा वस्तु का पानन, पर्यायन धर्मप्रवण, संवेग, निर्वेद, अनुसन्धा, आधिक्य का बाह्य रूप में प्रदर्शन यानी इन बाह्य क्रियाओं का आचरण उपयोग धूम्य होकर करना द्रव्य आवक का रूप है। यह व्यवहार है, क्योंकि हममें मात्र द्रव्य क्रिया का आचरण मुख्य है और क्रिया उस समय तक व्यवहार और द्रव्य रहती है जब तक उसका नामा में ठीक अन्तर्धान और स्पर्शन न हो जाये। हम इन क्रियाओं द्वारा आवक का ज्ञान कर सकते हैं, अन्तर्धर्म का ज्ञान दिव्य दृष्टि वाले कर सकते हैं। पर यह क्रियाएं अन्तर्दृष्टि में सम्पन्न हो तभी जीवन निश्चय और भाव आवक का रूप माना है।

२. **भाव आवक**—तत्त्वचरित्र में विगुडि अन्तर्वरण की निर्मलता, तथा यथासमय क्रिया के आचरण में अन्तर्विषय, परिणामों में अक्षयवेग, अन्तर्भाव आदि के भाव गुण हैं आन्तरिक रूप हैं, इनमें सम्पन्न उक्त क्रियागुणाना नामा भाव आवक है। भाव के धर्माव में अनुसन्धा में की गई क्रिया कोरी तत्त्व द्रव्यानुष्ठान ही है। यही (भाव) बलु का प्रथम पर निश्चय कहनाता है। भाव का ज्ञान व्यक्त (आवक) है व्यवहार, बाह्य क्रिया के आधार पर हम अनुमान से ज्ञान करते हैं। प्रथम सूँ बहें दि द्रव्य के आधार से भाव का प्रमाण होता है।

१३]

[आनक-कलव्य

(न) शक्ति में जलन के ना में सापारी मंत्रासा करके, देह ममता
की दूध करण ।

(न) मने दिने में दूध, पीतल आदि साधनकरण करना । यद्यारह
दिवसों के साधन का ममता करण ।

र(क)

आवक के चार प्रकार

आदमी का जीवन बड़ा ही रहस्य पूर्ण और विविध है। इसका यह वैचित्र्य कभी-कभी मानव मस्तिष्क को विचित्र कर देता है और वह उचिन्-अनुचिन् का निर्णय ही नहीं कर पाता।

मनोविद्यों ने उसके इस विचार, दृष्टि एवं व्यवहार वैचित्र्य का कारण मन की विचारणा शक्ति के विकास की मन्दता-नीचता बतलाया है। साम्प्रोय दृष्टिकोण में इसे मतिज्ञानावरण तथा दर्शन मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोरसम व क्षय में होने वाली आत्म-परिवृत्ति कहा गया है। इस परिवृत्ति में प्राणी के विचार, आत्म-व्यवसाय भिन्न-भिन्न प्रकार रहते हैं (हठ, हठगर, हठनम भी, मन्द, मन्दगर और मन्दतम होते हैं) और उसी नियम में वस्तु दृष्टि, तब दृष्टि तथा व्यवहार होता है। चिन्ता की Unders anding Power गुट तो किसी भी वस्तु के दर्शन मति-विगुडि के कारण मिथ्या धारणा नहीं होता तो चिन्ता में धारणा का अधिपत्य रहता है।

आवक की उक्त निम्नानुसार मन्द मति एवं तीव्र मति बाने होते हैं। जिसमें जिनके धरा में मति की विगुडता है उतना धारणा, हठ, बल, मति की मन्दता में उतना अधिपत्य रहता है। साथ ही चिन्ता की विवरता भी इसी प्रकार की होती है।

आगम में ये आवक चार प्रकार के बड़े बने हैं :—

१. आदर्श समान
२. पताका समान
३. रक्षागु समान
४. सर कष्टक समान

10

11

12

13

2000

भावक के लिये मुख]

[२०]

(आ) ब्रह्म के भक्ति (ब्रह्म-पद्धति), भेद, और दोषों का
पूर्ण रूप में ज्ञान करना ।

(इ) मुक्ति के द्वारा ब्रह्म का मुक्ति काव के लिए या जीवनमान
को ब्रह्म करना ।

(ई) ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म के प्रकार में जानना ।

(२) मुक्ति :- मुक्ति मनुष्य एवं आत्मात्मा होने मुक्ति
है । यह तीन प्रकार का है :-

(अ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(आ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(इ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(ई) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(अ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(आ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(इ) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

(ई) ब्रह्म के द्वारा मुक्ति :- (ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म) का
पूर्ण ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान आदि करना ।

[भावक कर्तव्य]

प्रत्येक कर्म का भाग युक्त प्रावरण करते यदि रसानुभूति हो
जाय तो जीवन अपने जन्म जन्मान्तरों के बन्ध कर्मों के संस्कारों का शय
कर देता है और तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लेता है।"

यह है भावों का भण्डार । हमने अभ्यास में किया हूँ यह
आवेग । क्या भी है—"भावनो भवनिनी, भाव विन मोक्ष न पावहि ।"
जहाँ जीवन और भगवान् महावीर के प्रतीतियों में एक भा
ग्य के विषय में भी सुख प्राप्त है—

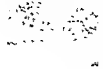
हो ! भाव का क्या निरुद्ध हो ?

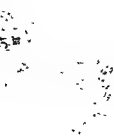
हो ! भाव का विरुद्ध हो ? प्राणी अर्हता प्रतिपादित
हो ! भाव का विरुद्ध हो ? प्राणी अर्हता प्रतिपादित
हो ! भाव का विरुद्ध हो ? प्राणी अर्हता प्रतिपादित

[भावक कर्तव्य, भाग २, पृष्ठ २२ टीका]

३०]

[भावक-कर्तव्य किं?]
भावक-कर्तव्य ही सोचना है, वह निश्चय ही सोचना है—
‘दुखीतु मोद’। —एक जहाँ जो देना हृदय में मेरे प्रेम के
जगत्-कावेरी।





11

"नियम" शब्द भारतीय मंजूति का सबसे मधुर शब्द है। नियम जीवन को नियमित, पदार्थ रचि को मोमित करना है। जीवन के लिए कुछ नियम स्वाभाविक ही होते हैं जो कुछ बिगिस्ट धर्मशास्त्रों से लेकर होते हैं। जिस प्रकार भोजन का नियमित व परिमित मात्रा में करना स्वाभाविक नियम है किन्तु कौनसा भोजन, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त है, और कितना यह मन की शुद्धता को मोमित करने के लिए निश्चय करना विशेष नियम है।

एक गिद्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—“कि सारो ?”

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—“सार सब-नियम-संज्ञम-सीलं।”

अर्थात् जीवन का सार तप, नियम, संयम तथा शील ही है। ये चारों तत्व धारणा को, मन को मर्मादिक, पदार्थ सुषा से दूर तथा पवित्र करते हैं। जीवन का यहो सार है कि तप से इच्छाओं का निरोध, नियम प्रहण मर्मादा, संयम के बीच इन्द्रियो तब मनोनिग्रह का बिबेक पूर्ण प्रवृत्ति और शील से कायिक धारण को प्राप्त किया जाय।

नियम का अर्थ है निर्गमित रूप से धारण। ये भी दो प्रकार का है—धर्मोन्मत्त (बुद्धि) का त्याग धर्मवा प्रमाण के धारण की नियमितता।

ये नियम चौदह हैं—

(१) सच्चित्तः—सजोब पदार्थ-ज्ञान, धर्म-ज्ञान, शील, धर्म्य धारि

* सचित्त शब्द विष्णु, दक्षी साधु का अर्थ है।

गुरुदेव तपस्य विवेक, धर्म दिनि धर्म्य को बुद्धि

का बसीकरण अभ्यास । ॥ भूल का प्रायश्चित्त करना, ॥ विनय—
६. वैश्यावृत्त्य (सिवा, शुश्रूषा) १०. स्वाध्याय, ११ ध्यान (चित्तवृत्ति-
निरोध) १२. व्युत्सर्ग—कपाय, ममार और कर्म का त्याग करना । ये तप
के प्रकार हैं जिनके आचरण से कर्मपर्यवो का अदमान तथा ज्ञान, दर्शन
और चारित्र्य गुण का विकास होता है ।

दान — दान का धर्म है जो दिया जाता है धर्मात् देना । प्रदत्त होता
है क्या देता और किस लिए देना ? कहा गया है अपने और दूसरों के
उपकार के लिए धर्मों—पात्र, अवसरवत्ता धाने को जो दिया जाता है
वह दान कहा जाता है । इसका आचरण ही दान धर्म है ।

दान अनेक प्रकार का है—जिन्नु यहाँ मुख्य रूप से चार प्रकार
का कहा जाता है सब हमी से ही अभ्यर्ग्य था जाते हैं—ज्ञान दान,
धन्य दान, धर्मांतरण दान तथा अनुकम्पा दान ।

ज्ञान-विद्या पढ़ाना और पढ़ाने वाले को सहयोग देना, अपने
प्रदत्त दूसरे से (दुखों से) अपमोक्ष, अथ प्राणिमो को निर्मम्य करना,
पाप, आवक की उसकी दुःखानुसार धर्म साधन के लिए साहाय्य, अथ,
अथ धार्मिक धर्म साधना के साधन— उपकरण देना तथा दीन होने दुखी
धनाप, योगी या एकदं अथ धर्मिक का (आलो मन्त्र) अनुकम्पा भाव से
(अनु + मृदम, कपा + कम्पन—घटवन दुःखी प्राणी को देत कर
हृदय में एक प्रकार की मृदम कम्पन का उत्पन्न होना तब उत्तम प्रेरित
होकर रक्षा के लिए दान देना अनुकम्पा दान है ।

आवक को प्रतिदिन कर्त्तव्य तथा धर्म दृष्टि से उत्त दान के
प्रकारों में से किसी न किसी का आचरण करना ही चाहिए । दान का
प्रतिफल, धर्म निर्जरा, पुण्य अथ, अनुकम्पा भाव का अनुकम्पा होता है ।
यह अनु कर्म है इसमें दारिद्र्य का नाश होता है । ये हैं वे दैनिक षट्-
कर्म जिसके लिए आवक को नियम आचरण सीत रहना चाहिए ।

है। क्योंकि यह पुरुष वापोत मृत्ति बाने होते है।^{१०} इनके लिए पदार्थ संग्रह वजित है। स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के परिष्कृत का त्याग होने से केवल संयम के पालन को ही ग्रहण करते हैं। इनके लिए पदार्थ की सुन्दरता अपेक्षित नहीं बल्कि माधन। इनके पास अपना कुछ नहीं होता सब याचित ही होता है। और याचना का अधिभार भी है इन्हे, क्योंकि तीन र्वाक्ति ही याचना के अधिकारी होते हैं—साधु त्यागी, दोनहीन (पाचक) और अज्ञाहीन। माप की मिष्टा सर्व सम्पत्करी कहलाती है। वह समाज में लेकर अपने उपदेश के प्रचार में उसे उन्नत बनाने की चेष्टा करते है, कुत्रिनियों का निराकरण करता है अतः वह साथ ही प्रमुपकारी भी है।

दीनर्शन की "पूणि भिक्षा" है। वह आरोगिक आदि दृष्टि में समग्र हानि के कारण मायता है। यहा अनुपस्था की अपेक्षा रहती है। तीव्ररी दीक्षा विरोधिनी या दोषरक्षणी भिक्षा है। जो बन्, कुट्ट के होने पर भी पुण्यार्थ कर आजीविता नहीं करते। अथवा पुण्यार्थ नारी त्याग की भिक्षा पोषणों है।

दशमान पदार्थ खीन्हा —

१. अन्नान्न खाते जाने वान्न पदार्थ, रोटी आदि ।
 २. पान्न पौम शोश्च पेय- पदार्थ, जल दूध आदि ।
 ३. स्नाहिन मिठाई, मक्का आदि सुरवात पदार्थ ।

১. 'ক' শ্রেণীর শিক্ষার্থীদের বিজ্ঞান বিষয়ের
 ২. 'খ' শ্রেণীর শিক্ষার্থীদের বিজ্ঞান বিষয়ের

[illegible]

१ अं वि वावा न द-द वा, कयल ५ द पु नवक,
सं वि संकलनमहर्षिः, आशुभ मी-

[illegible]

मिता है। अतएव गृहस्थ का द्वार दान के लिए सदा खुला ही रहना चाहिए। अरण्य में कहा भी है—“उत्तिय कलित्वा अयं गुप्तं कुयारा”
 वायु-संघम निर्वाह के पाँच आधार हैं—छह वाय—(पृथ्वी, जल आदि),
 गण, राजा, गृहस्थ और शरीर ।

[चौ० उद्गात अधिहार १६]

“समस्तं भगवन् महावीर निबन्धनो ध्यायतिष्ठ पयस्विण् कवेरि कश्चित्
 बद्ध भगवद्, बद्धिस्त भगमिना, निबन्धनं पञ्चकुलमण्डलाय पञ्चकुलसह । तं
 कथा—वाइयाय वाइयाय मागमिवाय ।

सूत्र-श्रवण नियम

आगम ज्ञान के रहस्य को जानने के लिए आगम वेत्ता पुरुष की सलाह प्रोक्षित है। उसके समीप बैठकर ही श्रवणों का ज्ञान होता पर वह ज्ञान किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, दो प्रकार से—
 १. निम्न और श्रवण से। इनमें श्रवण मुख्य है, व्यापक है। आगम में प्रवण सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में बनाया गया है कि श्रवण में ज्ञानरूप ही प्राप्ति होती है और ज्ञान में विज्ञान (विशेष ज्ञान—तोत्र) की। यही श्रुत धर्म है।

युक्त समीप बैठकर श्रवणों का ज्ञान निम्न बातों या विधि से होता है, यदि किया इन नियम पूर्वक नहीं होगी तो ज्ञान में वञ्चित होना पड़ेगा। वे नियम ये हैं—

१. आरम्भ में मौन रहकर सुनना,
२. फिर हुंकार देना, (जो ही, नहानि कहना)
३. जो आने कहा है वह ठीक है, ऐसा कहना
४. पुनः धर्म पूछना (गमन में न जाने पर)
५. सुनकर, मुक्ति पूर्वक विचार करना,
६. पूर्वानुसर प्रसंग का ज्ञान करने जानना।
७. फिर हृन्नापूर्वक धर्म की शरण करना।

(१. हुंकार, हाँ कहना, यदि पुनः, दोबारा, धर्मका श्रवण करिजिहूँ।)

1. The first step is to identify the problem.

“विश्राम” का अर्थ विश्रान्ति, यानी ठहरना। श्रान्ति-पकावट
र करने का उपक्रम ही विश्राम है। विश्राम में बल की वृद्धि है,
ठहरकर अपने बल-शक्ति का समग्र-संचय कर लेता है फिर उसी
एक कर्म को पूरा करने के लिए उठता हो जाता है।

विश्राम-ठहराव बुरी बन्तु नहीं, इसमें शरीर एवं मन की ताजगी
मिलती है कार्य करते-करते श्रान्ति हो जाती है किन्तु श्रान्त शक्ति स्वयं
पूर्व दुर्बलता को दूर कर पूरे बल के साथ काम करने लगता है। जैसे
एक भारवाहक अपने मिर या बग्ये पर भार वहन कर चलता है यात्रा
को। उसकी इस यात्रा में घबरा गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में चार
विश्राम होते हैं:—

१. एक बग्ये से दूसरे बग्ये पर भार रखना (बदलना)
२. मन-भूत के परिचाय के लिए भार नीचे रखना।
३. किसी अशान्त स्थिति में श्रान्ति को विश्राम के लिए ठहरना।
४. गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर विश्राम करना।

उक्त चार मार्ग की श्रान्ति को समय-समय दूर कर नया बल
ले करते हैं, जिसमें भारवाहक को विराम पीछा का अनुभव नहीं
होता:—शीलघत (पाँच घण्टा) दुर्बलता का दृष्टि करना

उपचार में पीयूष आदि करना।
दूसरा:—सामासिक, देखावडासिक दृष्टि का सम्यक् प्रकार से
करना।

[बाहर व्रत]

मो तीन भागों में विभाजित हैं—पाँच भण्ड व्रत, तीन गुण व्रत, चार सिद्धा व्रत । *

[८५]

पाँच भण्डव्रत :—

भण्ड का अर्थ लघु या छोटा । महाव्रत की अपेक्षा जो गुण, तपना की दृष्टि से जो छोटा व्रत है वह भण्डव्रत है । अर्थात् जो भण्ड छोटे रूप में स्वीकार किये गए हैं । उन्ना दूग्गा नाम शीतघ्न है ।

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण—स्थूल+मोटे रूप में, अर्थात् प्राणा-तिपात+प्राणों का नष्ट करना अर्थात् हिना में विरमण+निवृत्त होना स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत है । इसमें (प्राणी) व्यक्ति आपराध (स्वसरोर के लिए पोषाहारों, अरगधों तथा स्व-सम्बन्धी के अपराधों आदि) के अतिरिक्त निरपराध प्राणी हिमा का त्याग दो करण-कर्म नहीं, करवाऊँ नहीं, तीन योग—मन, वचन और भाषा में करता है । (देश राज्य, जाति तथा समाज के अपराधों इसी के सम्मर्गन या भाते हैं) ।

इस अहिंसाव्रत के पाँच अतिवार दोष हैं— वन्य, वध, द्रविक्षेद निमार, भक्ष-पान द्यवक्षेद ।

१—वन्य :— शिपद-नौरर आदि, अनुपद-चीपायं, याद, पोषादि को दृष्ट भावों, निर्दयता, शोषका अभावधानी में रखी आदि में बाँध देना वन्य है ।

२—वध :— बँत, कोटे आदि में मारना वध है । पुत्र, परिचारक आदि, गाय, भोड़ा आदि (शिपदवध—अनुपद को मारना, निर्दयतावश अपराध पर मारना वध अतिवार है ।

३—द्रविक्षेद :— दोगायं, चीर, दो के दाग द्वारा दृष्ट भावों से प्रेरित होकर सरोर के अंग-उपाग या अंगोपाग का काटना क्षेदना ।

४—अतिमार :—राक्षसे अथवा बोन सादना अतिमार अतिवार है ।

* ४१ को विषय भी है—अनुपद और ७ विषय । वंशद्वयार, लघुनिष्ठा अथवा—अनुपदवि विविधार्थ... ।

३—अनैंगक्रीडा—अनु + नही है, अंग + काम सेवन के साधन—शरीर-रावयव जो, उनमें काम सेवन करना या प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अप्राकृतिक अंगों में विषय सेवन करना। जैसे कि हस्त-कर्म अथवा अन्य उपायों का प्रयोग। उपचार से स्वपत्नी के प्रतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ मेषुन के सिवा पुम्बन, आतिग-मादि करना भी अनैंग क्रीडा है।

४—पर-विवाह करण—अपना एवं अपनी संतान अथवा दामिद्व के निर्वाह के लिए सम्बन्धी को छोड़ अन्य के विवाह करने करने में लीन रहना पर-विवाहकरण प्रतिचार है।

५—काम-भोग सोपानिलाप—दाय, रूप आदि पांच इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होना। स्वदार-संतोषी स्त्री के लिए पुरुष के वेद अनित वासना को शांत करने की कृत् है। बाजीकरण आदि शौचधियों के बल तथा कामशास्त्रों को बधित काम-प्रयोग का उपयोग कर वासना को तीव्र कर रति-क्रीडा को निरन्तर चाहना नही।

ये वे उपाय हैं जिससे व्यक्ति (आवक) अपने को संयमित रख अपने में समर्थ हो जाता है।

परिग्रह (इच्छा) परिमाण व्रतः—परिग्रह—मोह बुद्धि से बलु का भली प्रकार ग्रहण करना परिग्रह है। अर्थात् वस्तु एवं इच्छा और उसका परिमाण करना। शीत, बालु हिव, त्वर्ण, निन्द अनुपद, धन, धान्य तथा कुप्य—(बीता पीतल आदि के पात्र एवं अन्य घर का सामान) इन सब प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर मन को कृपार्थ

एवमा को सीमित कर शरीर को जीवन में जीटन करना हो इस व्रत का मूल अर्थ है। क्योंकि परिग्रह ही शरीर का अर्थ है। मर्दान्तिन बालु के उदरान्न वस्तुओं का एक करण तीन योग अथवा एक करण एक योग से त्याग दिया जाता है। इस व्रत के पाँच अनिचार हैं—

(२) चतुर्विंशति स्तव — चौबीस तीर्थ कर देवों की स्तुति या पूजा करने के लिये । तीर्थ कर-स्तुति करने में गुणों का व्याख्यान-उच्चारण होता है, मन में रहो हुई धर्म-तत्त्व श्रद्धा विबुद्ध होती है, गुण-गौरव का उपक्रम बनता है, अध्यात्म-बल जाग्रत होता है, करणीय कार्यों नेत्रों के आगे प्रतिभासित हो उठता है ।

सामयिक एक क्रियानुष्ठान है, पर साधक के लिए यह समभाव का प्रमाण रूप ही है जब जिन्होंने सम्मार्थ की स्थापना कर ली है, पूर्ण हो गये हैं जो प्रथमा जिन्होंने मारुतियों विरति का विधान किया है ऐसे पूर्ण पुण्यों के गुणों का कीर्तन, व्याख्यान घटका स्तुति करना आवश्यक है । क्योंकि ये आदर्श रूप हैं । ऐसे पुण्य कीर्तन हो सकते हैं । तीर्थ कर देव, प्रसिद्ध देव । तीर्थ कर का अर्थ है तीर्थ की स्थापना करने वालों और तीर्थ का अभिप्राय है जिसमें समस्त स्त्री सभुद्ध की रक्षा जा सके । अर्थात् धर्म सुदृढाचार्य और उनके पदचरणों के गुण-कीर्तन करना तीर्थ कर-स्तुति है । ये पुण्य सर्वथा निःशेष में रहित वांछनीय होते हैं । अतएव नियम है कि व्यक्ति आदर्श का अनुकरण करता है और निम्न गुणों की जायज में स्थान पा है उसका पुन पुन उच्चारण, आवाहन है और ये गुण एवं समय धन में धटित हो सकते हैं ।

चतुर्विंशति-स्तव साधकयोग-विराजित बलि व्यास के लिये आदर्श का अवलोकन है ।

(३) वन्दन — वन्दन का अर्थ है धनिवादन और स्तुति-स्तव । और में सम्यक्कार और वाणी से स्तुति करना वन्दना है । मन धनत का नाम का यह प्रत्यक्ष व्यापार जिसमें श्रद्धा की प्रतीति और मान प्रकट किया जाता है । वन्दन गुणों की किया जाता है और पूरे में धनिप्राय मार्ग-दर्शक से है । करने में गुणों — ज्ञान-धर्म तथा धारिण में जो अधिक है ऐसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक तथा श्राद्ध

होना विरति है यानी त्याग रूप किया । इससे आत्मा अशुभ प्रवृत्ति में दूर और शुभ प्रवृत्ति में मुक्त होता है । तथा इच्छा निरोध, सङ्ग-भाव, मुग्ध-मान्ति, ज्ञान दर्शन वृद्धि आदि सद्गुण प्रकट होते हैं । भगवान् महावीर ने प्रयात्मान का फल-निर्देश करते हुए कहा कि प्रायात्मान से आश्रय द्वारों का निरोध करता है, प्रत्यात्मान से इच्छा निरोध होता है, इच्छा निरोधगत जीव सर्वद्रव्यों से विमुक्त, शीत भूत होकर विचरण करता है । १

प्रत्याख्यान—त्याग वस्तु के आधार पर दो प्रकार है—द्रव्य और भाव । अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का त्याग द्रव्य है और अज्ञान, मिथ्यात्व, अमंथन, कपाय आदि वैभाविक विचार रूप-जो भाव हैं उनका त्याग भाव प्रत्याख्यान है । यहाँ आवश्यक में प्रत्यक्षित रूप से शुद्धि-कारण के लिए द्रव्य युक्त भाव प्रत्याख्यान में अभिप्राय है ।

[अनुयोग द्वार मूत्र पारदयत्त मूत्र]



† १७७१-७२ ई. का लघु शालिग्राम विमान । १७७१ ई. के लघु शालिग्राम विमान ।

मन विचारों का उद्गम स्थल है, प्रतिक्षण नये-नये विचार उत्पन्न हो-हो कर उसी में विनीत होते रहते हैं, ठीक नदी में जल तरंगों की भाँति । किन्तु कोई विचार उसमें से स्थायित्व को प्राप्त भी हो जाता है, यही अभितापा, इच्छा, मनोरथ के रूप में अभिव्यक्त होती है ।

इन्का मूल आधार मनोवृत्ति ही है मनः स्थिति शुभ है, शांत है तो विचार भी शुभ, प्रसन्न हैं, यदि मनः अस्वस्थ है तो शुभ विचार की धाना बहती ? स्वस्थ मन ही तो स्वस्थ, शुभ विचारों का जनक है । स्वस्थ मन आत्मानुभूत होता है, अस्वस्थ स्वप्नद । अतएव भौतिकी वैज्ञानिकों में सोन और धावपित रहता है । दिन-रात अप्राप्य, अविद्यमान वस्तु की प्राप्ति की चिन्ता करता रहता है, तो विद्यमान वस्तु के रक्षण की विचारणा ।

इन्ही दो चिन्ताओं, सोच में जीवन के दिन बीत जाते हैं ।

इसमें अगर भी एक चिन्तना है मन की, जीवन को घुड़, घुड़ बनाने की, मानवीय एवं धार्मिक रूप में से बनाने की । यही स्वस्थ, सुन्दर एवं शुभ है । जो शास्त्रीय शास्त्रों में 'आगरण' या मनोरथ कहा जाता है ।

मन की ऐसी चिन्तना बात की अपेक्षा तीन प्रकार की मानी गयी है—धर्मोत्त, वर्तमान और अनागत ।

इसमें गत काल की चिन्ता, धर्मोत्त का, मनः क्लेश का कारण है, धनः दुर्भाग्य, धर्मोत्त का, इस सोच में कोई लाभ नहीं, पर ही "अपेक्ष में आगे रोना, नैन रोना" मानी बात है । इतिहास

को मान करने वाला तथा समन—समता, समभाव की माधना
ता या समान मन.वाला ।

श्रावक द्वारा साधु जीवन का चिन्तन करने आदर्श का चिन्तन
है, वह इसके बल पर अभ्यास की भूमिका को पार करता हुआ उसे
मान कर ले लेता है । जिस प्रकार एक निम्न श्रेणी का विद्यार्थी उच्च
श्रेणी के चिन्तन, दर्शन एवं स्वप्न लेना हुआ अभ्यास के बल पर उसमें
विद्यमान हो जाता है ।

माधना सर्व प्रथम समभाव की पूर्ण माधना के लिए वह मन,
न शरीर काय वेशो (व्यापार) को निर्वृत्त (पार गति) बनाने की
प्रतिज्ञा ग्रहण करता है अर्थात् सामाजिक । यह मन की गोमयी अवस्था
है । शास्त्र-आदिमन्त्रावृत्ति से मन का ऊपर उठाकर समता या समभाव
विद्यमान करना सामाजिक का कार्य है । इसमें न तीन बलों का निरोध,
वशावस्था तथा पुरातन कर्म का साथ भी होता है ।

दूसरा कदम है, शिवा, अनाद्य, कोले अक्षरार्थ परित्यक्त इन
व प्रसिद्ध पापों का सर्वथा मन बचन बाधा दूर करने का उपा-
य । यह व्यवहारिक जीवन को आदर्शमय बनाने का हंग है । इस
क्रम में उन सब वास्तविक विषयों का निरोध है जिनमें पुरुषी, जल,
वायु, शरीर, अनात्म, तथा जगत् जीवो प्राणिमो का बोधा-असाद
पड़ती है ।

तीसरा आध्यात्मिक मार्गिक द्वारा है परमेश्वर परित्यक्त से आना है
जोकि तुमको बन जाना है । उसमें असा, अर्थ, असम्भवा, निर्वो-
त्पन्ना, माय, अदम, अर, अनादम आदि धर्म प्रकट हो जाते हैं ।

ये चार संमत होना है परन्तु असा के अर्थ का अर्थ है । अनादम
तुमने दूना होता है । अर्थ असा अर्थ असा के अर्थ का अर्थ है । असा
इस प्रकार आध्यात्मिक द्वारा है यह निरोध अदम, अर्थ, असा

होता ही मरता है। आत्मा अजर-अमर है।* जड़ विनाश धर्म है, पवन नहीं। वेदत अवस्था (पर्याय) में परिवर्तन होता है।

किन्तु मरने की भी कला है। इसमें अजर भी है। एक मुख्य प्रश्न ही तो दूसरा दुःसावह। मनोपमों ने प्रशान्त मरण की आज्ञा दी है, प्रशमा की है। मरण दो प्रकार का है, बाह्य मरण, पंडित मरण। अन्य मर्त्यों के ज्ञान, अज्ञान मरण। अन्य भेद में मरण तीन है—बाह्य, पंडित तथा बाह्य, पंडित। बाह्य मरण अमरत पुण्य का, पंडित मरण मुक्ति पुण्य-काष्ठ का तथा तीसरा आवक का।

संसार में प्राणी कर्मवश जन्म-मरण करने ही रहते हैं। किन्तु अजर है मरण में। एक अज्ञान अवस्था में ही दूसरा ज्ञान में।

आत्ममरण : जीवन के सम्यग्ज्ञान के अन्तिम अंश का मरण ज्ञान मरण है। ज्ञान का अर्थ है, अज्ञान और उगमे पुनः प्राणी जाच करता गया है।

विचार के अनुसंधान ही आचार होता है, तो विवेक, विचार के समाप में ज्ञान जीव, मिथ्यात्व वद ही प्रसाद एवं तृप्ति ही ब्रह्म का आचरण करता है, वह महा मायवीन्द्र, अमर, मिथ्याभारी, विद्यामय तथा बरती एवं अमर होता है। इन अवस्था विद्याओं के कारण आध्यात्मिक एवं आत्मिक विद्या का वदन करना हुआ अज्ञान अवस्था में मरण मरण अन्तिम निष्ठ मरणों में जन्म लेना रहता है।

अज्ञान अज्ञान ने निम्न हृदय में अज्ञान अज्ञान है इन ज्ञान मरण का—देते कोई एक आशीर्वाद अज्ञान आशीर्वाद की मुख्य मार्ग में

* "Separation of body and soul" (A. M. Kosha)

"वदतिवदति विदतिवदति" इति वदतिवदतिवदति वदतिवदति

इसके दो लाभ, दृष्टिगोचर होते हैं—(१) जीवन, के लक्ष्य का प्रतिक्षण स्मरण रहता है, वह कभी विस्मृत नहीं होता। (२) आदर्श लोक होने से उसकी प्राप्ति, मरण की स्मृति से मन आदि योग अशुभ कल्यादि मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते। यदि परिस्थितिवश ऐसा हो जाय तो तत्काल ही तत्काल निरोध हो जाता है। अतएव आत्मा लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता।

ये मनीरय चिन्तनीय भी हैं, चिन्तन और मनन वस्तु का गंभीर बन करना है, निष्ठा में दृढ़ता आती है तथा जीवन के कार्यों में भी एक या परिवर्तन आता है। चिन्तन के मनीरयो ने यह लाभ बताये हैं—

विराग, कर्म क्षय, विमुक्त ज्ञान, चारित्र्य की वृद्धि, धर्म-स्थिरता, म धातुय का शंभ और बोधि—तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति।

सारत्रय पक्ष के अनुसार मनीरयो के जागरण—चिन्तन से (व्यक्ति) मणोपामक की महानिर्जरा एवं महारस्यवसान-बन्धों की निर्जरा एवं पर्ययो का अज्ञान-अन्त होता है। धर्मान् अज्ञान में कर्म पुद्गलों। निर्जरा कर, संसार का पर्यवसान (अन्त) करता है। मोक्षान्निमुता ना हृषा क्रमः दुःखो का क्षय कर मोक्ष गुणों की प्राप्ति करता है।*

इन मनीरयो का जागरण केवल मानसिक ही नहीं बालिक एवं शिष्ट भी है। मन में चिन्तन, बचन में परावर्तन तथा वाता में अभ्यास करना ही जागरण है।

*निर्दिष्ट इति मनीरयोपमक महा निरजो महारस्यवसान लक्ष्य कर । मं ज्ञान—
 बन्धोपामक व. इत्येव मनीरयः, सदावना ज्ञानावले मने नि. मने
 महारस्यवसाने मने । [१२७-१२८]

चिन्तन का अर्थ है मनन करना, अथवा किसी वस्तु का एकाग्रता में गंभीर विचार चिन्तन है। चिन्तन एक प्रकाश की शक्ति है जो मार्ग के गुण-दोष को स्पष्ट कर देता है। चीसों में देखकर और कान बाँधे इन्द्रियों से गृहीत वस्तु का पूर्ण स्वरूप निलस नहीं जाता तब वह कि मन उसे जान नहीं लेता।

भगवान् महाश्वर ने जानो गीतम के प्रश्न के उत्तर में चिन्तन-धर्म का निर्देश किया—

“आप्तु कर्म के अनिष्टान् साधन कर्म की प्रकृतियों के धन बन्ध को मिथित, दोषबान् को स्थिति को ह्यम्बवानिक, तदा तीव्र रग को मन्द रस वाली, एवं अमाता वेदनीय कर्म (दुःख) का बार बार उत्पन्न नहीं करना, अनादि धनन, दोषमार्गो अनुर्गति रूप संसार भटकी को क्षीय हो पाव कर जाना है।”

आज लौकिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में चिन्तन-गुण का अभाव सा हो गया है धन जितो धोर भी जागृति दिशाधी नहीं पवती। धर, नियम, प्रतिष्ठा आदि के उल्लंघन भी है, दूसरी धोर नीति की पुरस्चार्थ भी है, किन्तु गृहीत साधना धोर लक्ष्य के प्रति विचार ही नहीं। प्रत्येक कार्य की आदि धोर अन्त में विचार का भरना भरता रहना चाहिए। समया के हल का पहला उपाय तो चिन्तन ही है।

आवक के निम्न दुर्भ्रम धातुओं के चिन्तन का विधान मिलता है। हमारा चिन्तन करने में जोसे धोर उपादेय का ज्ञान हो जाना है। ज परिष्ठा में आनन्द प्रसाहयान परिष्ठा में साधन करना वहां अंश-पुष्टि करण का कर्म है।

एक :- दुख क्या है ? मन-भावुलता । जब तक भावुलता है [१३३]
 रहें, वहाँ निरावुलता आई वही सुख का अनुभव होगा ।
 दो :- दुःख दूर कैसे हो सकेगा ? तब तक मैं दुःख में ही रहूँगा ।

बो :—दुःख दूर कैसे हो सकेगा ? प्रमाद के परिहार में ! प्रमाद
लाग जागरण है, जागता हुआ सुटता नहीं । रक्षा करता है अपनी
दृष्टि को भी ।
श्रीमन्त :—संसार में...

सोन :- संसार कैसा है ? धार्म प्राणी इतस्ततः परिभ्रमण
रहते हैं, अपने कर्म बश । जन्म, मरण, जरा, रोग आदि दुःख
संयोग-वियोग, रति-धरति, चिन्ता-शोक आदि विभिन्न परिण-
ामों में हैं ।

“यहो दुखो संसारो जरथ कीसति जंतुयो” के अनुसार
 १) दुःखमय यह संसार है जहाँ जीव बनेस का सदा अनुभव
 रहा है। फिर मृत कहाँ? मृत नहीं मुत्ताभाग है। मन एवं इन्द्रियों
 शिथिल आदि अनुज्ञान है तो मुख है अग्न्या दुःख है। यह मुख
 शान्त है, वस्तु जन्म है। सच्चा मुख नहीं। वस्तु आधार है और वह
 है। मर्यादा। यह मुख भूमा नहीं, सबोर्ण है, वस्तु-गोचर है तो मुख,
 नहीं तो दुःख। इस शान्त, नदर गगार में आरत-मुख नहीं। इन
 उन्मत्तों से परे ही मुख की स्थिति है। गगार में रहने हुए भी।
 जहाँ अनेक रूपता है वहाँ मुख - १) तब रूपता है वही मुख है।
 जीव और पुरुष का जब तक संबंध है कोई न कोई विषयान्तर
 स्थिति रहेगी ही अतएव बुद्धिमान पुरुषों ने गगार का वस्तुओं की
 प्राप्ति का, त्याग किया है और मृत्ती बने हैं।
 इस प्रकार के विचारों से

इस प्रकार के विद्यमान से सात लाख प्राप्त होते हैं —

† केवल कागज व विगुड मात्र व कागज वलिदामो ।
दिया कागज कोटि इय विगुड ।

दिया धार्य होहि इय विनाए नुह्यु हूनि ॥

निर्दिष्ट, परिस्थिति, पूर्व स्मृति भविष्य स्थिति आदि हैं। किन्तु मन को इन एवं शीघ्र द्वारा चिन्तन के लिए प्रेरित तथा अभ्यस्त जो किया जाता है वह इच्छा पूर्वक या अभ्यासपूर्ण चिन्तन कहलाता है। अनायास ही आ जाने वाला मन का विचार जब सम्मोह रूप धारण करना है तब वह चिन्तन की कोटि में आता है। और अभ्यास पूर्वक दिया गया विचार चिन्तन के निश्चय माने का उपक्रम है, प्रयत्न है मनः इसे एक समय की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है क्योंकि यह एक प्रकार का अनुष्ठान हुआ।

उक्त अनुष्ठान के लिए समय की जो निश्चिति है वही चिन्तन-ना है। यह भी दो रूप में कि—कौनसा और कितना समय। अङ्गुर्वेद अङ्गु बाह्य आगम में “कौनसा समय” का उल्लेख है किन्तु “कितना” समय की अवधि का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है तथापि अनुमान से किया है। शायी एक मनोविद्यो ने रात्रि के तीन प्रहर बाल बीत जाने पर अनुपूर्व प्रहर की चिन्तन-वेना बहा है। मूलोदय में पूर्व तक, उक्त कथन से “बार घड़ी के प्रभात” में नीम्मा छोड़ कर एकान्त बैठकर मैं जागरण-करनी चाहिए।† आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रागेव-ग्रन्थ जागरण में इस चिन्तन तथा धम-जागरण के बात, बिधि और रूप का उल्लेख करते हुए कहा—

आहो मृदती उतिष्ठेत्, परमेष्ठि-नृति पठन्।

वि धर्मा ? कि कुलारचारिभ्यः वि व्रतोऽप्येति च ॥

—योगशास्त्र को ११२

अर्थात् शक्ति की वृद्धि-वृद्धि में उठना चाहिए और सर्वप्रथम जो परमेश्वरी का स्तुति—‘नमो नमः’ का पाठ करना हुआ धर्म या है, मैं जिस कुल वाला हूँ और क्या धर्म है आदि का चिन्तन करना

† पुष्करसागर कावे शम्भ आचार्य कावदरकाते— १। [मुद्र विद्या १]

धर्म-मार्ग के प्रतिकूल क्रियाएँ हो सकेंगी । धर्म जागरणा तो मुख्य, स्तम्भ है ही क्योंकि वह तो जीवन स्वभाव है, कार्य है । इसके अभाव में जीवन मुक्ति, आत्म विमुक्ति नहीं हो सकती है ।

चिन्ता के भी तीन प्रकार हैं—उत्तम, मध्यम और अधम तथा अधमाधमा । अध्यात्म चिन्ता उत्तम, मोह विना मध्यम तथा काम विषय) की चिन्ता अधम कोटि की एवं पर की चिन्ता अधमा-धम है । †

उत्तरनिश्चित सभी जागणाएँ या चिन्तन पूर्व वर्णित दो-दो प्रकार की हैं—स्वार्थात्मिक तथा इच्छा या अध्यात्मपूर्ण । किन्तु यहाँ पहले प्रकार से अतिप्राप्त है अर्थात् प्रातःकालीन जागकर इष्ट-पनिष्ट के स्वप्न का, यन्तु धर्म का और अपने निज-पर रूप का ।

पदार्थ, परिस्थित की ओट से धाञ्जने वाला मन का अनायास स्वाभाविक चिन्तन बाह्य प्रकार का है जो अस्तुतः महापुरुषों के मन में निवृत्त, उनके मन द्वारा उन गम्य चिन्तन धारा के रूप में बहता या घागे चलकर अत्येक मन के लिए, चिन्तन का विधान बन गया । यह चिन्तन अनुप्रेषा, भावना के माध्यम से प्रसिद्ध हुआ । जैनशास्त्रों में इनका बहुवचन के माध्यम विधान है । इसे मन का प्रसंग अनुचिन्तन माना है । ये ये हैं—अनिरुद्ध, अक्षरगुरु, मंगार, एवमरु अक्षर, अनुचित, अक्षर, संवर निर्जरा, लोभ, कोरि दुर्लभरु, और धर्म ॥

† उत्तम-अध्यात्म चिन्ता अ, मोह विना अ अधमा ।

अधमा काम चिन्ता अ, पर चिन्ता-अधमा ॥ [परमात्म ४० ४]

‡ अतिमायागु मन-रहित-मायागु स्व-प्रवृत्ति-निर्जल-लोभ कोपि दुर्लभ धर्म स्वाध्याय स्व-तत्त्वानुविधानमनुप्रेषा ।

[लम्बाई ४० १३०]

•

†

1

•

☆ ☆

1

2

10

•

4

• **Prevalence** = the proportion of a population that has a disease at a particular point in time

"

• *Journal of Management Education* 32(10):1039-1050

•

•

•

बोध यही माना के रूप में है वही किसी समय भावी भगिनी, पुत्री
पति के रूप में परिवर्तित हो उसके सामने आता है। यहाँ की सर्व
वस्तुएँ दिव्यमनसोत्पन्न हैं, सिवा धर्म के यहाँ के सर्व पदार्थ परिवर्तन
योग्य हैं। "जन्म दुःखं जरा दुःखं, रोगाणि मरणाणि य।"

यही दुःखों संसारो, जस्य की गति जन्मवो।"

इस प्रकार का चिन्तन (The miserable nature of
the world.) संसार भावना है।

एकदम :—जीव भवेत्ता ही जन्म नेता है और भवेत्ता ही मृत्यु
को प्राप्त होता है, भवेत्ता ही शुभ-अशुभ कर्म का उपार्जन करके मुक्त
दुःख भोगता है किन्तु दुःख के जाल में कोई भिन्न, बाधक आदि साध
नहीं देते अर्थात् जोव स्वयं भवेत्ता हो अपनी क्रियानुसार कार्यविन्त
होता है। कर्मस्य ते मत्स उवेश कान् न ह्यधवा ह्यधवयं उवेशि।
तथा "आया भवेत्तो भवन्ते मय्य भवेत्ता होय" इस प्रकार भवेत्ते
पन का विचार करना (The sole'ness of the worldly
soul) एकदम भावना है।

आत्माय :—मे आत्मा है, देह भिन्न है, यह द्रव्यों में भी भिन्न है,
क्योंकि मैं खैराय है, मेरे में कर्मों में मुक्त होने की शक्ति है सत्-चित्त
एवं आत्मन को पूर्णता प्राप्त कर लेने का अद्वय पुरोपाय है अतः पुरो
ह, दायीर कर्त है, मैं अद्वय है, आत्मा का जड़ में शरद्वय धरद्वय है
किन्तु वह अनादि, अमृत है, अनित्य अविनाशायी नहीं। मूर्त्त होने में
पुद्गल-तूला-गन्ध, संयोग-विशेष आदि माना प्रकार के सद्वर दुर्गुणों
आता है जब कि मैं—आत्मा अजरद्वय, अमरद्वय, अविनाशी अविनाशी
आदि शुद्धमुक्त है।" इस प्रकार भेद विज्ञान का आश्रय लेकर चिन्तन
करना अर्थात् इन भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त अद्वय वस्तु भी है जो
उत्पुच्छ दुर्गुण आती है आदि विचार करना (The distinctness
of the self from body) अद्वय भावना है।

एक कर तथा दोनों, पार्श्वों को फैला कर पड़े हुए पुरुष की प्राप्ति की योग्य यह लोक है । इसमें धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, तथा वान द्रव्य अवस्थित हैं । धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के बनने में सहकारी साधन है अधर्म द्रव्य उनकी स्थिरता में, आकाश स्पर्शाद्य-रसान देने में, काल वस्तु स्वल्प को परिवर्तित करने में सहायक है धर्मात् उपर्युक्त स्वभाव वाले तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । इनमें जहाँ आकाश के अतिरिक्त धर्म आदि पाँच द्रव्यों की विद्यमानता है वही लोक है । मूल में जीव और पुद्गल वाली ध्वनि और जड़ ये दो द्रव्य ही लोक सत्ता की स्थापना करते हैं । इन्हों के आधार पर लोक के तीन भाग हैं—अधोऋक्ष, मध्यम व और ऊर्ध्वलोक । अधोऋक्ष की मरक, मध्यलोक को मनुष्य लोक, और ऊर्ध्वलोक को देवलोक कहते हैं । इत्यादि लोक के स्वल्प का चिन्तन लोक भावना है ।

योगि दुर्लभ—योगि का अर्थ है सम्यग् ज्ञान । बिना सम्यग् ज्ञान के सद्चरित्र की प्राप्ति नहीं होनी और चरित्र के अभाव में अगुणी तथा अगुणी अगुण में मुक्त नहीं होता एवं मुक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है । अतः अनादि-अनन्त समय में अलग-अलग से जीव भव-भ्रमण कर रहा है । जीव ने कार्य देना मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, दीर्घायु, पूर्ण इन्द्रियो, मानवी तथा स्वर्गोपार्जित ऐश्वर्य प्राप्त करने की प्राप्ति की किन्तु एक सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव में इन सब की निरर्थक ही सेवा दिया क्योंकि ज्ञान ही प्रकाश करने वाला है । इसके अभाव में जीव सम्प्राप्त नहीं है इस प्रकार बिचार करना दुर्लभ भावना है ।

अर्थ दुर्लभ भावना - अन्तर मनुष्य मनु विद्वत् प्राप्ति, पुत्र वि. विनय परिवार आदि में सब अ.अन विन्दे प्राप्त नहीं है उन्हें नहीं समझ

प्रश्न १ :—इहलोक कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—शील के अपालन से, अविरति-वस्तु प्राप्तिके तथा हिंसा आदि का त्याग न करने से तथा नियम एवं मर्यादा के धारण न करने से पुरुष (प्राणी) का इहलोक बिगड़ता है। अर्थात् वर्तमान जीवन में यश, सुख, प्रतिष्ठा आदि लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में घातक नष्ट हो जाता है। वह अप्रीति एवं अप्रतीति का पात्र बनता है।

प्रश्न २ :—परलोक कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—शील—(नम्रता, अनुशासन, सद्व्यवहार) के अपायण करने, हिंसादि दोषों में विरत न होने से, यत्न साधना के अपरिश्रम परलोक बिगड़ता है। प्राणी एक वर्गावरण से स्वच्छन्द, उद्विग्न, चञ्चल तथा अप्रमाणिक बनता हुआ धनुष बन्नी का उपासन, संशय, प्रह्व करता हुआ भविष्य के निम्ने मनुष्य, देव आदि (गुणनि) जीवन परित्यक्त कर दुर्गति-नरक, निर्गन्ध का अपिचारी बनता है अतएव परलोक बिगड़ना कहा गया है।

प्रश्न ३ :—जन्म कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—जन्म बिगड़ने के भी एक तीन कारण ही हैं—कृतीत, अविरति, अप्रमत्तमान। इनमें जीवन अर्गदली, तापसी और आध्यात्मिक हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा मनात हो जाती है। शुभ कर्म योग कर्म के अभाव में निष्ठ जन्म की प्राप्ति होती है।

इसके विरुद्ध तीन प्रश्न सुधारने के हैं—इहलोक, परलोक और जन्म के विषय में।

परिशिष्ट (प्राकृत)

सामाख्य-सुतं

नवस्मर-नमस्कार-सूत्र (एक)

नमो धरिहंतायं,
नमो सिद्धायं,
नमो अ.धरियायं,
नमो उवग्मयायां,
नमो सोए सध्व-साहूयं !
एतो पंच-नमुशकारो, सध्व-पाव-व्ययासणो ।
मंगलाय च सम्बेति, पद्मं ह्यह मंगलं ॥

गुरुनन्दन-सूत्र (दो)

तिष्ठसुतो
आदाहिणं पयाहिणं करेमि,
बदामि, नमंतामि,
सवकारेमि, सम्माणेमि,
कलनायं, मगतं,
देवमं, चेदमं,
पगुवासायमि,
मयएण बंदायमि ।

जे मे जीवा विराहिया-
 एगिंदिया, वेइंदिया, तेइंदिया
 अउरिंदिया, पचिंदिया ।
 अमिहया, वसिया, सेसिया,
 संपाहया, सपट्टिया, परियाविया,
 कितामिया, उइविया,
 ठालामो ठाल संवामिया,
 जोवियामो ववरोविया,
 तस्य मिच्छा मि दुक्कड ।

उत्तरीकर-धृष्ट (पाँच)

सस उत्तरी करणें,
 पायच्छित्त-करणें,
 वितोहि-करणें,
 विमलमी-करणें
 पाबाणं बम्माण निग्घाणट्ठाए,
 ठामि वाउत्तमं ।

आगार-२५

अप्रथम ऊर्ध्वगणं,
 नीर्ध्वगणं,
 अक्षिणगणं, क्षीणं,
 अंशद्वयं, उद्वयं,
 बाधनित्यं,
 अमनीयं, वित्तुत्तमं ।
 सुद्वयं अंश-अक्षिणं,
 सुद्वयं क्षेत्र-अक्षिणं ।

एवं मए अभित्युष्मा, विहय-रयमला, पहीण जरमरणा ।
 चत्तवीमं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयतु ॥५॥
 नित्थिय-वंदिय-महिंया, जे ए सांगस्स उत्तमा सिद्धा ।
 धारग-बोहि-तामं, समाहिवरमुत्तमं दितु ॥६॥
 चदेमु निम्मलयर, भाइक्खेवु महियं पयासयर ।
 सागर-वर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धि यम दिसंतु ॥७॥

सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र (सात)

करेमि मते । सामाहयं,
 सावग्ग जोगं पक्खवत्तामि,
 जाय नियमां सुहृत्तं पग्गुवात्तामि ।
 दुबिहं तिबिहेणं
 न करमि, न वारवेज्जि
 मनसा वमसा वायसा ।
 तस मंते ।
 पडिदुमामि, निदांमि, गग्गिहामि ।
 चण्णं बोधिरामि !

प्रतिपाद-सूत्र (आठ)

ममोत्पुण्ण । अहिताणं, भगवन्ताणं ॥१॥
 भाइगराणं, निदयराणं, सव-संइज्जाराणं ॥२॥
 पुरियुत्तमाणं, पुरिस-सोहाणं,
 पुरिसवरपुं करीयाणं पुरिगवरमण्हत्तीणं ॥३॥

† भिज्जी सामाविह करण करी हो उनके दृष्टि में एक मुक्त हो—
 बोधने आहिणं ।

पञ्चकखाण-मुत्त'

नमोन्नकारसहिषं-श्रुत् (१)

उत्तमए मूरे नमोन्नकारसहिषं पञ्चकखाणि'
चउत्तिवहं रि धाहारं-अत्तणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।
अन्नरवणामोहेणं, सहवागारेणं, 'मोत्तिगामि ।

पोरिमि-मुत्त' (२)

उत्तमए मूरे पोरिमि पञ्चकखाणि, चउत्तिवहं रि धाहारं-
अत्तणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नरवणामोहेणं, सहवागारेणं, पञ्चकखाणेणं, दिनामोहेणं,
आहुवदेणं, गववगमाहि वनिवागारेणं, बोमिगामि ।

पुरिमिट-मुत्त' (३)

उत्तमए मूरे पुरिमिट' पञ्चकखाणि, चउत्तिवहं रि धाहारं- अत्तणं,
पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नरवणामोहेणं, सहवागारेणं, पञ्चकखाणेणं, दिनामोहेणं,
आहुवदेणं, गववगमाहि वनिवागारेणं, बोमिगामि ।

उत्तम-मुत्त' (४)

उत्तमए मूरे, अत्तमट्टं पञ्चकखाणि, चउत्तिवहं रि धाहारं-
अत्तणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

इदं गी की प्रमाणान्तरं ब्रह्मना हो श्री "पञ्चकखाणि" के स्थान पर
"पञ्चकखाण" और "बोमिगामि" के स्थान पर "बोमिगामि" ब्रह्मना ब्रह्मिण ।

अप्रत्ययलोभोऽनेन, सहसागारेण, सागारियागारेण, गुरु
पद्मद्वारेण, महतरागारेण, सख्य समाहितियागारेण बोधिरामि ।

आपेविल-मुत्तं (७)

आपेविलं पञ्चक्यामि, १अप्रत्ययलोभोऽनेन, सहसागारेण,
मेवावेवेण, उक्तिस्त विवेकेण, गिहि-संसद्वारेण, महतरागारेण, सख्य
समाहितियागारेण, बोधिरामि ।

अभिगाह-मुत्तं (८)

अभिगाहं पञ्चक्यामि अउविहं पि आहारं, असणे, पाण, खाइमं,
साइमं ।

अप्रत्ययलोभोऽनेन, सहसागारेण, महतरागारेण, सख्य समाहित-
तियागारेण बोधिरामि ।

विगदय-मुत्तं (९)

विगदयो पञ्चक्यामि, अप्रत्ययलोभोऽनेन, सहसागारेण, लेवा-
लेवेण, गिहय-गमिद्वारेण, उक्तिस्त विवेकेण पञ्चक्यामि, महतरा-
गारेण, सख्य समाहितियागारेण, बोधिरामि ।

दिवन चमि-मुत्तं (१०)

दिवन चरितं पञ्चक्यामि, अउविहं विद्याहारं-अगुणं, पाणं,
आइमं, साइमं ।

अप्रत्ययलोभोऽनेन, सहसागारेण, महतरागारेण, सख्य समा-
हितियागारेण बोधिरामि ।

१ यद् "अगुणं, पाणं, आइमं, साइमं, तथा अउविहं, आइमं, साइमं
विद्याहारं" वाच्यं श्री ६ ।

पोसहोववासय-सूत्रं

उत्पन्नं भूरे पञ्चपुष्पं ग्यारहवां पोसहोवयं पञ्चवक्ष्यामि
 प्रथमं पाणं साइम साइमं पञ्चवक्ष्यामि,
 द्वयं सेवणं पञ्चवक्ष्यामि,
 त्रया वण्णमवित्तेवणं पञ्चवक्ष्यामि,
 चतुस्रं मण्णं-मुक्खणं पञ्चवक्ष्यामि,
 सारव-मुसनाइ सावज्जं जोगं पञ्चवक्ष्यामि ।
 आबं महोरत्तं पञ्चवक्ष्यामि
 इविहं तिदिहेणं
 नं करेमि, नं करवेमि,
 मणसा, वयसा, बामसा
 तस्स भत्ते ।
 परिक्खमामि, निन्दामि, गरिहामि,
 अप्पाणं बोधिरामि ।

पोसहोववासु पारण-सूत्रं

ग्यारहवां पोसहो वयसं पंचं पारणं
 आण्णियसं, नं ममायंरियसं, तंजहा-ते धम्मोउं
 अप्पाण्णियेहिं दुप्पमण्णियेहिं मेउज्जा संवारणं,
 अप्पमण्णियेहिं दुप्पमण्णियेहिं मेउज्जा संवारणं,
 अप्पाण्णियेहिं दुप्पमण्णियेहिं, उप्पचारं पामदणं भूमि,
 अप्पमण्णियेहिं दुप्पमण्णियेहिं, उप्पचारं पामदणं भूमि,
 पोसहो वयसं गम्मे अप्पण्णियेहिं,
 तस्स भत्ते ।

परिशिष्ट (हिन्दी)

पद्य

श्रावक सज्जमाय

उपास्य धर्म करो जो मुग्ध-दाई, स्वर्ग पुरि निश्चये जाइ जो,
संसार-संसार मत्त कोई धाएँ, वृत्त समवित्त, सुरदाई जो ॥१॥

उठो सवारो जिन धर्म कीजे, भव-र नमोकार गुनी जे जी,
मुक्त मोक्षों साक्षात्करीजे, भव-र पहिलमणी टाई जी ॥२॥

पद्मदाह बर्मादान निवारो, विषया बको मन चारोओ,
भोजन बेला साथ संभालो, दान, गुणान दोओ जी ॥३॥

बबदाह नेद बितारो जो चित्तमा, धनरथा दह निवारो जी,
बाराधन जो मन में धारो, जय जीवन प्रानि पाओ जी ॥४॥

हृति लक्ष्मी को लाओ लीजे, दान में गुदान दीजे जी,
पर बग पहिमा पगलावन कीजे, पैर बह हासन धारो जी ॥५॥

बूढ़, बपट, दूध-मेद निवारो, गान गुणिगन निवारो जी,
पर्व दिवस धारंभ ने टारो, सफल करो धनधारो जी ॥६॥

सहिदा होय तो जाय गिमाको, दीप जोमाओ जाय न दीओ जी,
दुर धारो धामोदला कीजे पैर बूढ़ हासन धारो जी ॥७॥

साथ विद्या, उदरन गुनीजे, दीप दीप दाप न कीजे धो,
गुनी गुनी बरला मन धारो, दिन रेविदाय रम कोरे जी ॥८॥

स्वरूप-चितन

छन्द : (हरि गोतिका)

मैं कौन हूँ ? ये कौन हैं ?

निज रूप किस विधि आदरुं ?
है जगम अन्तक किस बजह से ?

किस तरह इसको हलुं ॥ १ ॥

करना पड़े यदि कार्य्य फिर से,
कार्य्य ऐसा मैं करुं ?जन्मना मरना पड़े नहिं,
पुनः, उस विधि से मरुं ॥ २ ॥यह त्वप्न है या सत्य है ?
निश्चय हमें कैसे करुं,दुःख बाल्यनिव ही है अगर तो,
किस निष्पत्ति से हलुं ॥ ३ ॥यदि शोक मरता है नहीं तो,
किस तरह मैं मैं मरुं ?होना प्रलय जड़ दग्धु का यग,
पदान मैं ऐसा धरुं ॥ ४ ॥

मेरी भावना

[५]

जिसने राग द्वेष कामादिक धीरे, सब जग जान लिया ।
मम जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह ही उपदेश दिया ॥
बुद्ध, बोर, जिन, हरि, सदा, या उसको स्वाधीन रहो ।
भक्ति-भाव से प्रेरित हो, मह चित्त उसी में लीन रहो ॥१॥

विषयों की शाना नहि चिन्ते, साम्य-भाव धन रखते है ।
निज-परके हित साधन में जो, निमि दिन तपसर रहते है ॥
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना शेष जो करत है ।
ऐसे जानी गाधु जगत के दुख सङ्गह को हरते है ॥२॥

रहे सदा मत्संग उन्ही का, ध्यान उन्ही का लिये रहे ।
उनही जैसी बर्षा में यह चित्त सदा धनुरक्त रहे ॥
नही सताऊ किसी जीव को, भूठ कभी नही बहा कर ।
पर धन बर्निता पर न मुभाऊ, सतोशामुत दिया कर ॥३॥

घटकार का भाव न रखू, नही किसी पर शोध कर ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या-भाव धन ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरस-रास व्यवहार कर ।
बने कहा सब इस जीवन में, क्षीरो का उपहार कर ॥४॥

श्रीभाव जगन में सेवा, सब जीवों में शिष्य रह ।
नि-दुःखी जीवों पर करे, उर में बरणा शोक रह ॥
नि बुर-भुलारी रती पर शोभ नही मुझको घाव ।
मनाब रगू में उन पर, ऐसी परिपूर्ण हो जावे ॥५॥

अनो को देख हृदय में, करे प्रेम उनह का
बहा नव उनकी सेवा करवे, यह धन दुख पावे

बारह भावना

१—अनित्य भावना

राजा राणा छत्र पति, हाथिन के भगवार ।
मरनो सबको एक दिन, अपनी घरनी बार ॥

२—अशरण भावना

हल बल देवी देवता, मात पिता परिवार ।
मरती बिरिया ओबड़ो, कोई न राखन हार ॥

३—सत्सार भावना

दाम बिना निर्धन दुखी, मृच्छा बग धनधान ।
बड़े न मुख संसार में, सब जग देखी छान ॥

४—एकत्व भावना

प्राप अवेला अवतरे, मर्या अवेला होय ।
त बिरिया ओबड़ो, साथी सगो न बोय ॥

५—अव्यक्त भावना

हा देह अपनी मरी, तही न अपना बोय ।
त मरति पर प्रकट के, पर है अविज्ञान सोय ॥

६—अधुनि भावना

त आम आदर मरी, हाह पीकरा देह ।
त दा मम जगन मे खीर नही लिखे ॥

छब्बीस बोल

(१) उल्लाखिया विधि—दारीर पोछने का बरत—तौलिया, धंगोछा आदि का परिमाण ।

(२) दातुन विधि—दात-धावन के लिये दतीन (बहून आदि) की मर्यादा ।

(३) फन विधि—घाघ, कदली, संतरा आदि फलों का परिमाण ।

(४) अय्यंगन विधि—तैल-मर्दन के लिये अमृक तैल प्रयोग में होगा तैली मर्यादा ।

(५) उबटन विधि—घाटे, मैदे आदि की पीठी जिसमें दारीर फ किया जाता है उसके प्रकार का परिमाण ।

(६) मरजन विधि—रत्नान के लिये जल का परिमाण या उगके पानी की मात्रा का परिमाण ।

(७) बरत विधि—भूती, ऊनी, देहली अमृक बरत अमृक मर्यादा प्रयोग में लाऊंगा का परिमाण ।

(८) विनैपन विधि—बादन आदि मृगपित द्रव्यों का दारीर बरत का परिमाण ।

(९) पुत्र विधि—अमृक मात्रा के हुनाह आदि पुत्रों का परिमाण ।

(१०) धानगरा विधि—हार, झंझरी आदि अमृक धानगरा हो परतूंगा—देगा परिमाण ।

~~CONFIDENTIAL~~

1

2

3

4

5

6

7

(२३) उपानत विधि—पगरखी-चप्पल, बूट, सलीपर आदि हिस्सों तथा चमड़ा, कपड़ा, रबर आदि के प्रकार और संख्या परिमाण ।

(२४) वाहन विधि—सवारी यात्रा के लिये जीव सवारों, निर्जीव परिमाण ।

(२५) सक्षित विधि—सजीव पदार्थों के उपयोग (नारी, पुरुष, दाम्नी, पशु आदि) का परिमाण ।

(२६) द्रव्य विधि—उपयुक्त समस्त वस्तुओं की सख्या से भाण ।

[अंश. १ अ.

• •

एव मे सर्व प्रकार की हिंसा, असत्य, चोरी, चक्रवर्त्य, परिग्रह (ममता सात्वता) का सर्व प्रकार से (तीन करण, तीन योग) प्रत्याख्यान करता है। मोक्ष आदि १८ अक्षरणीय (पापों) का जीवन भर के लिए पक्षवर्त्तण करता है। सर्व प्रकार का भजन, पान, खादिम, स्वादिम चार प्रकार के आहार का भी त्याग करता है तथा यह शरीर जो मुझे दृष्ट, वास्त, प्रिय, मनोरम, मनोरम, धैर्य, विद्वन्मनोव, समय, धनुमन्त, बहुमन्त, भण्डकण्डक (पात्र-येटी), रत्न-करण्डक (रत्न-मंजूषा) समान एवं मीन, उपलु, शुषा-पिपासा, क्षीर, हाँस-मच्छर, वान-पित्त-वप, भयंकर मृशिरात आदि विविध रोग घातक आदि परीपह (बटिनार्द) उपमर्गों (कष्ट) का स्वर्ण होगा जो कि हमारे प्रियतम है तो भी मैं पीड़ित नहीं हूँगा और मैं इसे खरम (घन्तिम) दवागोच्छवान में त्याग करने ही किन्तु अभी मैं ही मैं इसका त्याग (इस पर जो ममता है) करता हूँ ।”

इस प्रकार धनुष्टान करने गम भाव, समाधि पूर्व मुग्ध वेला तक आत्म-चिन्तन में लीन रहना मरणानुष्ठान है ।

इस धनुष्टान के पाँच अंगिचार (योग) हैं जिनका परिहार करने हुए इस धनुष्टान का आचरण करना चाहिए—

(१) इहलोका-आत्मता प्रयोग—इह=वर्तमान मानी मनुष्य-लोक विषयक आत्मता—इच्छा कि मैं जन्मान्तर में यही राजा, मंत्री, धोड़ी आदि रूप में उत्पन्न हो जाऊँ, करना ।

(२) परलोक-आत्मता प्रयोग—पर=दूरस्थ-अन्य में अवस्थित आदि लोक विषयक—कि मैं जन्मान्तर में इन्द्र, देव आदि बनूँ, इच्छा करना ।

(३) जीविन-आत्मता प्रयोग—जीविन रहने की इच्छा करना जो कि “इह परिहार क्षीर लोक में प्रयोग है यत्र अविन जीवन् मृ” यह जीविन प्रयोग प्रयोग है ।

सामाहय-मुत्तं]

सामाहयस्स अणवट्ठियस्स करणया,

सामाहयस्स सह अकरणया,

तस्स मिच्छामि दुक्कहं ।

सामाहयं सम्मं काण्हं....

न काखियं, न पात्तियं

न तीरियं, न विट्ठियं

न सांहीयं, न आराहीयं,

आण्णए अणुपात्तियं न भवह

तस्स मिच्छामि दुक्कहं ।

